उपेन्द्रनाथ 'अश्क' जी के कथा साहित्य के समकालीन परिदृश्य

डॉ. कादम्बिनी मिश्र सहा. प्राध्यापक अजय सत्यप्रकाश महाविद्यालय जबलपुर (म.प्र.)

'अश्क' जी के कथासाहित्य के समकालीन परिदृश्य वर्तमान युग के अनेक उपन्यासों में आये लघु कथा प्रसंगों में भी मानव जीवन एवं उससे संबंधित घटनाओं के अनेक तत्वों का समावेश हुआ है। इन उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता का भी समावेश है। यद्यपि पूर्व की कृतियों में भी मनोविज्ञान की झलक मिलती है फिर भी आज इस प्रवृत्ति को हम नये रूप में पाते हैं। 'अश्क'के उपन्यासों में आने वाले पात्र समाज के मुख्य अंग होते हुए भी व्यक्ति प्रधान है। पात्र स्वयं ही चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं उन्हें उभारने की आवश्यकता नहीं होती, प्रत्येक पात्र अपने में महत्वपूर्ण है। 'अश्क' के पात्र मुख्यतः मध्य वर्गीय समाज से संबंधित हैं।

'अश्क' के उपन्यासों में पात्र समाज के हरेक अंग एवं वर्ग की प्रत्येक समस्या को लेकर सामने आते हैं। समकालीन परिदृश्य के चित्रण में कथाकार जितना ही कुशल तथा सर्मज्ञ होगा, उपन्यासों के माध्यम से उसे मानव की सहानुभुति तथा संवेदना के चित्रण में भी उतनी ही सफलता प्राप्त होगी। वातावरण का सुन्दर तथा मनोहारी चित्रण ही कथा का प्राण है। सामाजिक धार्मिक–सांस्कृतिक, राजनैतिक आदि प्रश्नों के हल भी उपन्यास में समकालीन परिदृश्य के द्वारा सरलता से प्राप्त किये जा सकते हैं। समकालीन परिदृश्यों का चित्रण करते हुए उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक सा हो जाता है कि समाज का कुप्रभाव पात्रों पर न पड़े किन्तु यथार्थवादी चित्रण द्वारा उपन्यासकार उस कुप्रभाव से पात्रों को दूर रखने में असमर्थ ही रहता है। कभी कभी यथार्थवादी उपन्यासकार समाज एवं पात्रों के यथार्थ चित्रण के साथ ही मुहल्लों, गलियों, सड़कों, बाजरों तथा घरों कासत्य चित्रण कर उपन्यास की कथा को सुन्दर तथा आकर्षक बना देता है। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि उपन्सास के लिए समकालीन परिदृश्य का अत्यधिक महत्व है, जिसके बिना उपन्यास की कथा पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सकती उपन्यासों के विभिन्न स्वरूपों के कारण भी देश काल तथा समकालीन परिदृश्यों में स्वभाविक रूप से भिन्नता आ जाती है यथार्थ एवं सत्य वातावरण की सृष्टि करके कथाकार समाज एवं वर्ग के ऐसे चित्र चित्रित करता है कि पढ़ने वाला उसी में रम जाता है, चाहे वह कोरी कल्पना ही क्यों न हो?

स्मकालीन परिदृश्यों की यथार्थता को कुछ इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि पढ़ने वाला मनोमुग्ध हो उसी में खो जाता है। यहाँ तक कि वह विश्वास करने लगता है कि जो कुछ उपन्यासकार ने लिखा है अथवा जैसे चित्र उसमें प्रस्तुत किये है वह सत्य का ही प्रतिरूप है पात्रों के कार्य कलाप तथा समयानुसार कथाकार सत्य तथा यथार्थ चित्रण द्वारा देशकाल के समकालीन परिदृश्य की रचना करता है कि उसे पढ़ने वाला सत्य समझ बैठता है– ''वातावरण का इतना अधिक महत्व होता है कि जिस प्रकार रात के अंधेर में रस्सी में सांप की प्रतीति होती है। उसी प्रकार यथार्थ समवातावरण के कारण एक कल्पित कथा में सत्य घटना की प्रतीति होती है।''[1] उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का जन्म मध्यवर्ग के संघर्षशील वातावरण में हुआ। साथ ही इनका सम्पूर्ण जीवन कठिनाइयों तथा सक्रांति काल के बीच से गुजरा। उस समय समाज तथा वर्ग की सारी की सारी कुरीतियों एवं रूढ़ियों से पूर्ण मान्यताओं को बदल देने की परिस्थितियाँ उत्पन्न सी हो गई थीं । जिस रूढ़ियों को समाज ने सत्य का रूप दिया उनका मूल्याकंन भी सत्य द्वारा किया गया जा रहा था। यथार्थ विचारों को आदर दिया जाने लगा था। प्रेम और विवाह संबंधी विचारों में परिवर्तन हो रहे थे।

सामाजिक सत्य जो प्रेमचन्द युग में अत्याधिक प्रभावशाली था, अवनति के गर्त में डूबता जा रहा था तथा प्रतिकार स्वरूप में क्रांतिकारी स्वर गूंजने लगे थे। समाज और युग के हुंकृत इन नई परिस्थिति में लेखन वर्ग भी स्वर को सुन कर त्याग, ज्ञान तथा सर्तकता के साथ उठ बैठा। उसकी उनीदी आँखे खुल चुकी थी। फिर क्या था? उसने समाज की पुरानी कुरीतियों, रूढ़ियों तथा सुसंस्कारों को सुधारने के लिए प्राणपण से तैयार ही अपनी कृतियों द्वारा मानव जीवन की कमजोरियों तथा रूढ़ियों को समाप्त करना चाहा। उसने मानव जीवन की विडम्बनाओं का अन्त ही नहीं किया अपितु जीवन के यथार्थ को सम्मुख रखा जिससे मानव घृणित कार्यों को त्याग नवयुग के सद्विचारों को ग्रहण कर आगे बढे। भारतीय पूँजीपतियों ने द्वितीय महायुद्ध में अपने स्वार्थों को विकसित रूप दे दिया था। उन्हें शोषण लूट खसोट तथा नफाखोरी के लिए पर्याप्त साधन मिले, जिससे निम्न वर्ग को श्रापग्रस्त होना पड़ा। मध्यवर्ग भी अपनी आर्थिक स्थिति से नीचे गिरने लगा कारण है कि यह वर्ग निम्नवर्ग की भाँति शारीरिक श्रम नहीं कर सकता और न ही पूँजीपतियों के समान ही अपने को सम्भ्रान्त बना सका इसी कारण इस वर्ग के लोग अपने अरमानों को अपने में ही समेट कर रह गये।

'अश्क' के उपन्यासों का समय 1940 से 1974 तक का है। उनमें निम्न मध्य वर्ग एवं मध्य वर्ग का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया गया है। 'गिरती दीवारें'', ''शहर में घूमता आईना'', 'एक नन्ही किन्दील', बांधो न नाव इस ठांव', 'गर्म राख',

'एक रात का नरक', तथा 'पत्थर अल पत्थर', उपन्यासों से इस सत्य की पुष्टि होती है।

कथाकार समाज का अंग होने के कारण अपने पात्रों द्वारा द्वारा उस स्थान विशेष का चित्रण करता है, जिसमें उसे सत्य का बिम्ब दिखाई पड़ा है। इसी दृष्टिकोण को प्रधानता देते हुए उपन्यासकार 'अश्क' ने जालन्धर, लाहौर, शिमला आदि नगरों को ही अपना प्रतिपाद्य क्षेत्र बनाया है। इस नगरों के गली–मुहल्ले, बाजार दुकान तथा वहाँ के रहने वाले प्रत्येक वर्ग तथा उसके प्रतिनिधियों से 'अश्क' पूर्ण परिचित से लगते हैं। जालन्धर शहर की गलियाँ सड़के, कुँए पर भीड़, गुण्डों का बेमतलब दूसरों को परेशान करना, पाठशाला, किताबें तथा वस्ता के लिए झुण्डों में घर के कमरे में बैठे बैठे परिवेश से पूर्णतः अवगत होता चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ''सैरबीन वाला हत्ती घुमाता जाता है और हम सैरबीन के शीशों से आँखें सटाये पूरे विशाल और तल्लीनता के चित्रण का नन्हें से नन्हा ब्यौरा देखते जाते हैं।''[2]

लाहौर का चंगड़ मुहल्ला जो मुख्य बाजार अनारकली के पास ही बसा है, वहाँ बसने वाले गूजरों, चमारों, भंगियों के घरों की गंदगी और बदबू, भिश्तियों के होने पर भी मक्खियों– मच्छरों से पूर्ण तथा भिन्न–भिनाता मुहल्ला, चल चित्र के पर्दे की भाँति ही पाठकों के नेत्रों में यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। साथ ही वहाँ के बनावटी तथा कृत्रिम सामाजिक जीवन, धूल तथा गंदगी से पूर्ण बाजार की सड़कें तंग गलियों के दोनों और नालियों से आने वाली दुर्गध तक का उपन्यासकार द्वारा उपन्यासों में चित्रण किया गया है। पाठक को घर बैठे ही वैसी गंदगी महसूस होने लगती है। गंदे, टूटे–फूटे खण्डहर घरों की भी कमी नहीं है। खोमचे वाले तथा दुकानदार तो यत्र–तत्र बिखरे पड़े हैं। तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आन्दोलनों के साथ ही स्कूल, कालेज, नेता, सम्पादक, कवि, साहित्यकार, पत्र–पत्रिकाएं, बीमारी, रूढ़िगत विश्रृंखलित परिवारों आदि सभी का समावेश 'अश्क' के उपन्यासों में मिलता है।

इसी प्रकार शिमला के चित्रण में लेखक वहाँ के प्राकृतिक दृश्यों के साथ वहाँ के दर्शनीय स्थानों, होटलों, क्लबों, लोअर बाजार तथा जाकू की अलौकिक सुषमा, रूल्दू भट्टा सभी रेखाकंन किया है। शिमला के दस–बारह मील की दूरी पर सी.पी. का पहाड़ी उत्सव भी चित्रित है जो वहाँ के अनपढ़, असभ्य, क्रूर अधिकारियों का परिचय देता है। ऐसा गलता है कि प्राकृतिक दृश्यों, आकर्षक गीतों तथा पहाड़ी औरतों की सुन्दरता के साथ ही वहाँ के अधिकारियों के क्रूर व्यवहार तथा अमानवी वातावरण के द्वारा लेखक एक

'कन्ट्रेक्ट' (वैपरीत्य) की सृष्टि कर रहा है। प्रकृति और मानव की विषमता का इससे बड़ा उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलेगा।

कश्मीर के परिवेश में भी वहाँ के दर्शनीय स्थानों, होटलों, सड़कों बस्तियों के अतिरिक्त गंदगी तथा दुर्गन्ध से पूर्ण परेजपुर गाँव, छोटे–छोटे नाले, लकड़ी के बने दो मंजिले घर, हसनदीन का तीन कमरों वाला मकान, उसमें घोड़े तथा उसके खाने के लिए घास, मुर्गों का बांग देना, कुलियों के झुंड से झुंड लेखन की कल्पना से ही सजीव बिम्ब की भाँति दीख पड़ते हैं। इतना ही नहीं, पहलगाम, दो नाला, गुलमर्ग, खिलनमर्ग, फरोजन लेक, अफरावट, अलपत्थर का कठिन मार्ग डलझील, बर्फ से युक्त पर्वत, मन हरने वाले सौन्दर्य युक्त प्राकृतिक दृश्य, देवी देवताओं पर विश्वास, यात्रियों का शोषण एवं निम्न वर्ग का सीधापन आदि विविध दृश्यों और प्रसंगों को पाठक घर बैठे ही जान लेता है। निश्चय ही उपन्यासकार की ये कल्पनाएं अनुभूतियों से पुष्ट हैं और उनका इतिवृत्तात्मक रूप में वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली और मार्मिक वस्तु है।

'अश्क' के उपन्यास यह बातते हैं कि रोमांटिक फंतासियाँ यथार्थ के भी दुर्लभ कोने में उजागर कर सकती हैं। अपने को विभक्त करके एवं वर्गांतरिक करके भी देखने का साहस जहाँ 'अश्क' कर पाते हैं वहाँ वे अधिक सार्थक हैं और यह महज कलात्मकता के बूते असंभव है। इनके उपन्यासों में कई बार जो काल्पनिक, अविश्वसनीय है वही उपन्यास का सच है और उपन्यासकार का भी। उनका विश्वास इस उक्ति में था– 'हमें जो मिला है उसे सब में बाँट देना चाहिए।'

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. हिन्दी उपन्यास शिल्प और प्रयोग डॉ. त्रिभुवन सिंह
पृष्ठ–286
2. शहर में घूमता आईना' उपेन्द्रनाथ 'अश्क'पृष्ठ–फ्लेप से

A Study of Working Capital

DR.JITENDRA KUMAR YADAV (PRINCIPAL)LBS INSTITUTE OF MANAGEMENT JABALPUR

Abstract: Every firm required to maintain a sound working capital position. The investment in working capital should be balanced. Therefore, it is necessary that the firm should manage the working capital properly. It is the responsibility of financial manager to determine the level and composition of current assets. Following are the important aspects of working capital management :

1. Working capital management requires much of the financial manager's time.
2. Working capital represents a large portion of the total investment in assets.
3. Working capital management has greater significance for small firms.
4. The need for working capital is directly related to sales growth.

By observation, it is pointed out that the financial manager is required to devote much of his valuable time in management of working capital. He is required to see the level of current assets and current liabilities. It is necessary to manage working capital to get maximum advantage.

A significant portion of total investment in assets is involved in current assets. In case of a large and medium public company, current assets consist of about 60% of that total net assets. It clearly shows that financial management of current assets.

It is particularly important for small firms to manage their current assets and current liabilities very carefully. Small firms in India face serious problem of collecting debtors.

There is a direct relationship between sales and needs for working capital. The financial manager should be aware of the fact. He should finance the current assets immediately.

There are two danger points relating to working capital- excessive and inadequate investment in current assets. It the investment in current assets is more than requirement, it will have bad effect on firm's profitability because the fund will remain idle. On the other hand, if the investment is inadequate, it can affect solvency of the firm, because the firm will be unable to make payment of current obligation on time. Therefore, management should be very prompt in taking action if there is any imbalance.

The second point is how the working capital will be arranged or how the current assets will be financed ?ifthe business activities are increase, the level of working capital need will also increase. If the need for working capital funds arises, arrangement must be made immediately. If there is any surplus, it should not be allowed to remain idle but it should be invested in short-term securities. Therefore, financial manager should have a knowledge of the source of working capital as well as the fields in which it can be invested.

Introduction to working capital: Working capital may be regarded as the life blood of a business. It is closely related with day-to-day operation of the business and so it is important for external as well as internal analysis. Every business needs funds for two purposes. Long-term funds are required to create production facilities through purchase of fixed assets e.g. plants, machinery, etc. funds are also needed for short-term purposes for the purchase of raw materials, payment of wages and other day-to-day expenses. These funds are known as 'working capital'. In other words, working capital refers to that part of a firm's capital which is required for financing short-term or current assets e.g., cash, debtors, inventories, etc. The name 'working capital' is perhaps derived from the fact that this is the part of total capital which really, 'work' to produce profit for the firm.

Concept of working capital: Working capital means the firm's holdings of current, or short-term asset such as cash, receivables, inventory and marketable securities. It is measure of company's efficiency and it's short-term financial health. The working capital ratio is calculated as current assets-current liabilities. It shows how much liquid assets a company has available to build its business. It is a most fundamental measure of a company's financial strength. If a company possesses a significant value of liquid assets, it can easily fund its day-to-day business obligations. Maintained adequate working capital is not just important in the short-term sufficient liquidity be maintained in order to ensure the survival of the business in the long-term as well. Even a profitable

business may fail if it does not have adequate cash flow to meet its liabilities fall due.

In simple terms, working capital refers to the cash and cash equivalents which a company requires in order to finance its day-to-day business operation or in other words, working capital refers to an capital which is readily available to an organization.

The term 'working capital' is used in two different ways:

1. Gross working capital or (Total working capital): The term gross working capital refers to the firm's investment in all the current assets taken together'. In other words, the total investment in all current assets is called gross working capital. Current assets are those which are required to meet day-to-day operation of the organization and they are convertible into cash within a period of one year or within an operation cycle. Current assets include cash, bank, debtors, B/R, stock and short term securities. For example, if a firm has bank balance ru. 1,00,000, debtor ru 50,000 and stock ru 30,000, then the gross working capital of the firm is ru 1,80,000.

2. Net working capital : It refer to the difference between current assets and current liabilities. Current liabilities are those claims which are expected to mature for payment within an accounting year, like creditors, bills payable and outstanding expenses. If the current assets are more than current liabilities, it is called 'positive working capital'. On the other hand, when current liabilities are greater than current assets, it is called 'negative working capital'.

The two concepts of working capital-gross and net are not exclusive. They have equal importance from management point of view. A financial manager must consider both of them because they provide different interpretations.

The gross working capital shows the total investment in current assets. The gross working capital should be maintained at optimum level because the shortage of working capital may stop the routine activities, while the excessive working capital will reduce the profitability.

Net working capital refers to the amount which must be invested by the firm from its own resources because the remaining portion of current assets is financing by current liabilities. The net working capital also denotes the net liquidity maintained by the firm. The concept of net working capital indicates the liquidity and suggests how the working capital needs can be financed. Generally , it is assumed that the level of current assets should be twice that of the level of current liabilities. However, it is also necessary that the quality of current assets should also be considered. A weak or negative liquidity position may be harmful for the company. But excessive liquidity is also bad. it indicates mismanagement of current assets. Therefore, it is the responsibility of financial manager to take prompt action to correct the imbalance. For every firm, there is a minimum amount of net working capital which is permanent. Therefore, a portion of the working capital should be financed with the permanent sources of funds such as owner's capital, debentures, long-term debt, preference capital or retained earnings. Management must decide the extent to which current assets should be financed with equity capital and borrowed capital.

It may be concluded that both gross working capital and net working capital are equally important for effective management if working capital. The exact amount of gross and net working capital can not be determined. Similarly, there is no specific rule as to how current assets should be financed. There should be proper balance and prudent-mix of various sources and their applications.

Characteristics of working capital

Following are some characteristics of working capital:

1. **Short life span :**Current assets like cash, bank balance, marketable securities, account receivable and inventories, etc. all are short lived. Their life span does not go beyond one year. So, the working capital usually have short life span.

2. **Swift transformation :**Current transformation of current assets into other form of current asset is another major feature of working capital. The cash is utilized to procure raw material, raw material is transformed into work in progress and then finished products which is usually sold on credit and creates accounts receivable which after collection are converted back into cash. Operating cycle is nothing but a transformation cycle or various current assets into other forms of currents assets.

3. **Short-term focus :**The other significant feature of working capital is its attention on the short-term financial position. The entire focus is on the procurement and management of assets in the short sum i.e. usually one year.

4. **Repetitive and frequent :** working capital management involves repetitive and frequent activities as explained in operating cycle.

5. **Liquidity :** The essence of working capital management is in providing liquidity all the time in business in such a way that neither the risk is very nor the return on investment should fall.

6. **Inter-relation among Assets :**As the current assets are swiftly transformed into other forms of assets so they are also interrelated to each other. The decisions taken for one current assets also affect the other current assets.

Permanent and Temporary Working Capital: The level of working capital requirement can not be fixed because it changes with the change in activities .however, there is always a minimum level of current assets which is continuously required by the firm. It is called permanent or fixed working capital. It is similar to the fixed assets in a company. If there is any change in production and sales, the need for a working capital can be changed.

The extra working capital required to support the changing production and sales, is called temporary or variable working capital. Both kinds of working capital-permanent and temporary are needed to run the business smoothly.

Dimension of Working Capital Management: Companies face many decision problems, out of them investment in current assets and their financing is also an important decision. What should be the level of investments in inventories and bills receivable ? How much cash or marketable securities should be held ?what should be the level of credit purchases and bills payable ? These question relate to the current assets and current liabilities of a firm and belong to the working capital management is concerned with all the aspects of managing current assets and current liabilities.

Determination of appropriate level of investment in current assets is the first and foremost responsibility of a working capital manager. Although the amount of investment in any current assets ordinarily varies from day-to-day, the average amount or level can be used in determining the permanent and fluctuating investment in current assets. Deciding the level of investment, the type of current assets to be held are equally important decision variable.

Another important dimension of working capital management is to determine the mix of finance for working capital which may be a combination of short term and long term sources. Bills payable, short term bank loans and commercial paper are the most common example of short term sources of working capital finance. Debenture, term loans, equity and retained earning constitute long term sources of working capital finance. What combination of different sources of working capital should be employed towards financing the permanent and fluctuating working capital, constitutes a major problem confronting a finance manager.

Risk-return Trade-off in WCM: It is assumed that all decision of the financial manager have the object of maximizing the shareholder's wealth. Working capital decision is no exception. Accordingly, risk return trade-off is an important characteristic of working capital decisions. There are two types of risk involved in working capital management viz. liquidity risk and opportunity loss risk. Liquidity risk is the non-availability of cash to pay a liability that falls due. It may not only cause a loss of reputation but also makes the working conditions unfavourable. The other risk involved in working capital management is the risk of opportunity loss, i.e. risk of having too little inventory to maintain production and sales. As a result, the firm would not be able to earn the potential profit due to lack of funds and inventories.

Hence, the financial manager should attempt to maintain a balance between risk and return while determining the amount of working capital and its potential sources.

Principles of Working Capital Management

1.Principles of risk variation : Risk refers to the inability of a firm to meet its obligation, when they become due for payment. There is a definite inverse relationship between the degree of risk and profitability.

A management prefers to minimize risk by maintaining a higher level of current assets or working capital.

2. Principles of cost of capital : This principles of cost of capital says that, higher the risk, lower is the cost and lower the risk, higher in the cost. A sound working capital management should always try to achieve a proper balance between these two.

3. Principles of equity position : It is concerned with planning the total investment in current asset. Every rupee invested in the current asset should contribute to the net worth of the firm. The level of current assets may be measured with the help of two ratios:

(a)Current assets to total assets.
(b)Current assets to total sales.

4. Principles of maturity of payment : It is concerned with planning the sources of finance for working capital. A firm should make every effort to relate maturity of payment to its flow of internally generated funds.

Need for Working Capital and its Importance: Working capital may be regarded as the life blood of a business. Any business activity involves different operations. So there is a need for working capital in the form of current assets to carry on such operation successfully. Also to deal with the problems arising out of the lack of immediate realization of cash against goods sold. To assess the working needs of the firm, let us analyze the operating cycle of the firm. The three main stages involved in the operating cycle are production, sales and cash.

Similarly, a company has to invest in raw material and work-in-progress to produce. Desirable stock of finished goods to be kept to sustain future sales. For this, the company requires continuous supply of raw material. For this, the company needs sufficient cash regular interval for making the payment of ram material to suppliers. Beside this, the company should also maintain sufficient stock of finished goods, raw material and work-in-progress. The maintenance of stock of raw material and other inventory involves blockage of fund of company as there is time lag for its realization into cash. This requires determination of optimum level of inventory at which the cost of maintenance as well as cost of blockage of fund is minimum. Beside this, the level of stock of raw material should be such that it is capable of satisfying the demand of production finished good for sales. Technically, this is referred to as operation cycle.
Thus, operation cycle is the continuous flow of cash to suppliers, inventory, accounts receivable and than back into cash. In other words, the term operating cycle refer to the length of time necessary to complete the following cycle of events:

1. Conversion of cash into raw material.
2. Conversion of raw material in work-in-progress.
3. Conversion of work-in-progress into finished goods.
4. Conversion of finished goods into accounts receivable.
5. Conversion of accounts receivable into cash.

Importance of Working capital Management: Every firm required to maintain a sound working capital position. The investment in working capital should be balanced. Therefore, it is necessary that the firm should manage the working capital properly. It is the responsibility of financial manager to determine the level and composition of current assets. Following are the important aspects of working capital management :
5. Working capital management requires much of the financial manager's time.
6. Working capital represents a large portion of the total investment in assets.
7. Working capital management has greater significance for small firms.
8. The need for working capital is directly related to sales growth.

By observation, it is pointed out that the financial manager is required to devote much of his valuable time in management of working capital. He is required to see the level of current assets and current liabilities. It is necessary to manage working capital to get maximum advantage.

A significant portion of total investment in assets is involved in current assets. In case of a large and medium public company, current assets consist of about 60% of that total net assets. It clearly shows that financial management of current assets.

It is particularly important for small firms to manage their current assets and current liabilities very carefully. Small firms in India face serious problem of collecting debtors.

There is a direct relationship between sales and needs for working capital. The financial manager should be aware of the fact. He should finance the current assets immediately.

There are two danger points relating to working capital- excessive and inadequate investment in current assets. It the investment in current assets is more than requirement, it will have bad effect on firm's profitability because the fund will remain idle. On the other hand, if the investment is inadequate, it can affect solvency of the firm, because the firm will be unable to make payment of current obligation on time. Therefore, management should be very prompt in taking action if there is any imbalance.

The second point is how the working capital will be arranged or how the current assets will be financed ?if the business activities are increase, the level of working capital need will also increase. If the need for working capital funds arises, arrangement must be made immediately. If there is any surplus, it should not be allowed to remain idle but it should be invested in short-term securities. Therefore, financial manager should have a knowledge of the source of working capital as well as the fields in which it can be invested.

Determination of Working Capital/ Factors Affecting Working Capital

Adequate working capital is required for the efficient conduct of a business.

The working capital need of a firm is influenced by various factors. There is no specific rule or formula to determine the need for working capital requirement may also vary from time-to time and so the working capital needed at one point of time may not be suitable for some other situation. This is the reason that the determination of working capital requirement is a continuous process and it must be undertaken regularly as per the changing situations. Following are the factors which generally influence the working capital requirement of the firm:

1. Nature and size of the business : Working capital requirement of a firm are influenced by the nature of the business. Firms which are involved in trading, have a very small investment in fixed assets but it requires a large sum of money to be invested in working capital. For example, a retail store is required to maintain large stock of a variety of goods, so it will need sufficient working capital. On the other hand, companies relating to public utilities have a limited need for working capital but they are required to invest large sum in fixed assets.

Similarly, size of the business also has important effect on working capital needs. If the size of the business is large, it will need more working capital than a small firm.

2. Volume of sale : The working capital need of the firm also increases with its sales volume. We can not exactly determine the relationship between volume of sales and working capital needs. Therefore, it is necessary to make advance planning of working capital for a growing firm.

When a firm invests funds In fixed assets in order to increase sales and production, it will sales and production, it will increase investment in current assets also. Otherwise such a firm face financial problems and it would not be able to pay dividend to shareholders. It is therefore, necessary to make proper planning by such companies to satisfy the needs for working capital

.

3. Condition of demand : Generally, there is a fluctuation in the demand of the products and services. Due to variation in business, the demand for working capital will also increase. The firm's investment in stock and debtors will also increase. If the additional investment in fixed assets is made, the working capital requirement will also increase. On the other hand, if there is a decline in economy, the sales will fall and so the level of stock and debtors will also fall.

Such type of fluctuations in economy will not only affect the working capital requirement but also create production problems for the firm.

If there is sudden increase in demand, the cost of production will be higher, similarly during low demand also the production will be expensive because it is required to maintain labour force without adequate work.

4. Credit policy of the firm : The credit policy of the firm also affects the working capital requirements. Normally the credit facility is given according to the standard rules of that particular industry. A firm should be very careful in granting credit to its customers. If the firm has followed a liberal credit policy without giving

proper attention to the credit worthiness of the customers, it will be fatal for the firm. The firm should be very prompt in collection. If the average collection period is too much, it will increase the chances of bad debts.

It is necessary to follow a rational credit policy which should be based on credit standing of the customers. The creditworthiness of the new customers should be periodically checked and if there is any customer who delayed in payment, action should be taken immediately.

5. Manufacturing cycle : Manufacturing cycle starts from purchase of raw material and ends with production of finished goods. If the manufacturing cycle is longer, the working capital requirement will be large. It is also required that manufacturing cycle should be completed within specified time period. if there in any delay in the process, the work-in-progress will accumulate and there will be wastage of time. In order to reduce working capital needs, some manufacturers take advance payment from their customers.

6. Change in price level : Change in price level also creates problems to the financial manager. If the level of price is increasing, the requirement of working capital will also Increase. But if the firm can revise its rate immediately with increase in price level, it will not face the working capital problem so seriously. It is also possible that some companies will not be affected by rise in prices while other may be badly affected by it. The effect of change in price level will be different for different companies. Some will face no working capital problem but other may face it seriously.

7. Efficiency and performance :the pressure of working capital is also affected by the fact of how efficiently it is utilized. The efficiency of the firm relates with utilization of resources at the minimum costs. Different firms have different profit earning capacity. There are some firms which earn higher profit because they have quality product, good market. On the other hand, there are many firms which face competition and so they can earn low margin of profits.

Even if a company earns higher net profit, the whole amount will not be available for working capital purpose. If the dividend is paid at higher rate, the working capital fund will reduce. A firm can increase its working capital by a balanced dividend policy and tax planning.

8. Change in technology :due to changes in technology, generally there is improvement is the system of processing raw material, decrease in wastage, move with speed in production and higher productivity is achieved by automation. As a result, the need for investment in investment is reduced which, in turn, leads to reduction in working capital requirement. If the manufacturing process cycle is reduced the change in technology, it will also reduce the requirement of working capital.

9. Inflation :the monetary and fiscal policy of RBI have direct impact on the level of inflation. If the economy is growing, inflation is quite possible. As a result of growing inflation, the prices of raw material, labour and overheads increase. It requires higher investment in inventories and manufacturing process and so the need for working capital also increases. The rising inflation also affects the demand and supply of the fund. All these factor affect the requirement of working capital of the business concern.

10. Market conditions :working capital requirement are also affected by market conditions like degree of competition. When the competition is tough, large inventory is essential to maintain and credit has to be extended on liberal term which need more working capital.

11. Abnormal factors :abnormal factors like strikes and lockout require additional working capital. If the economic conditions are inflationary, more funds for working capital would be required to maintain the same amount of current assets.

Following are some other factor which influence the working capital :

(a) Cash requirements
(b) Manufacturing time
(c) Term of purchase and sales
(d) Inventory turnover

(e) Business turnover
(f) Business turnover
(g) Current assets requirements
(h) Profit planning and control
(i) Repayment ability
(j) Cash reserves
(k) Firm's finance and dividend policy
(l) Attitude towards risk
(m) Rate of growth of business
(n) Seasonal variations, etc.

References :

1. Dr. S.M. Shukla – Management Accounting Sahitya Bhawan Publication, Agra
2. Dr. P.C. Gupta- Mangement Accoungtin Jawahar Publication, Agra
3. Dr. Mukesh Jain- Management Accounting Ram Prashad And Sons Bhopal
4. Financial Management Theory and Practice Brigham
5. Fundamentals of Financial Management Horne,
6. Wachowiez Jr.
7. Financial Management and Policy Van-Horne

SATISFACTION AS A BOON TO ADJUSTMENT

Dr. Rashmi Gupta[1]
Asstt.Professor,
Department of Education,
Hawabagh Women's College,
Jabalpur

Mrs. Bhawna Sharma[2]
Asstt.Professor,
Department of Education,
Hawabagh Women's College,
Jabalpur

Dr. Manisha Basal[3]
Asstt. Professor,
Head, Department of Psychology
Hawabagh Women's College,
Jabalpur

INTRODUCTION

Satisfaction has been set forth as one of the goals of human adjustment as one of the factors to be reckoned within an acceptable concept of efficiency. The essentials of good life comprises in the main, the means of meeting the needs and desires of man that are innate or are at any rate universally present. Satisfaction and dissatisfaction are terms that refer to the way one feels. They are descriptive of the feeling or emotional aspect of experience as distinguished introspectively from its intellectual or rational aspect. It is necessary to avoid setting up a sharp dichotomy between these two kinds of experiences. The feelings are vague and are not localized in a sense organ as are the sensory reactions of seeing and hearing. It is also experienced as a glow of pleasantness or even a warm glow of pleasantness. Dissatisfaction cannot be so readily characterized but it will be recognized as unpleasant. If the preceding modest generalizations are acceptable, adequate justification is at hand for attaching great significance to satisfaction and dissatisfaction in adjustment.

THE NATURE OF SATISFACTION

A glow of satisfaction pervades the day's work and makes events seen to run smoothly, or a cloud of dissatisfaction descends and envelops the worker in a fog of discontent. When one is satisfied, he is satisfied "all over", and when he is dissatisfied, he is dissatisfied "all over". Satisfaction is desirable in itself and that it should be one of the products of work to which every worker is entitled. It has been the expectation, nevertheless, of those concerned with increasing efficiency that decreasing dissatisfaction, and thereby raising the general level of satisfaction, would improve performance. It is a must recognize the need for manifestation by the individual of his nature impulses, his motives and aspirations for self-expression, for ownership, and for recognition in the eyes of his fellows. It is sufficient to recall that the very nature of satisfaction and dissatisfaction is such as to lead to the spread of their influence ones the twenty four hours of the day, no matter how these hours happen to be spent.

SATISFACTION FROM PROPER WORKING CONDITIONS

When employees are given an opportunity to say what makes jobs satisfying or dissatisfying, they rate high the factor of variety, in what they are called upon to do. Also they value the freedom to choose the way in which they shall do any specific thing. It is found too that rest periods introduced at appropriate intervals give satisfaction not so much for the relief of fatigue but for the mere fact of change. Elimination of rest periods or reduction in their length are frequently resented because the sum total of satisfaction is thereby reduced. One can speak concerning this matter only in rather general terms since individuals differ in respect to what gives them satisfaction as in every other respect. But over and above these differences among individuals there is a sensitivity to the many work variables that contributes to the general undercurrent of feeling, whether it be predominantly satisfying or dissatisfying.

SATISFACTION THROUGH ADJUSTMENT OF CAPACITY

The greatest hope of satisfaction from work lies in putting each person into the type of occupation for which he is best fitted. There must be proper interrelation of the strength of the worker and the strength required of him. The same is true of physical endurance, intellectual capacity and all over other significant traits. Individuals differ in these respects and it is a vital matter to recognize the importance of such differences. The fear has frequently been expressed that, when such adjustments have been made, there will be no one to do the menial tasks. The study of the interests of people with the introduction of machines to take over more and more of the heavy and routine work, there will, doubtless, be enough persons who will get satisfaction from doing the remaining menial tasks. The study of the interests of people of low mentality and of opportunities for employing them in industry has demonstrated that there are many who prefer routine, repetitive and menial activities and who shrink from tasks that are more complex and responsible.

SATISFACTION THROUGH ADJUSTMENT OF PERSONALITY

Every one of the current classifications and descriptions of personality suggests differences among people of a kind which a practical vocational counsellor would need to recognize in advising them. Introverts and extroverts, ascendants and submissive, motor and mental, mechanical and social adjust differently to life situations. Accordingly some persons were inclined toward mental work and others towards manual work, some liked a settled life and others a rowing life, some enjoyed indoor work and others outdoor work, some preferred projects of large scope and others of small scope, some were deliberate and others were impulsive, some tended to concentrate their energy whereas others tended to diffuse there is work may create satisfaction through the opportunity for social intercourse to be one of a group and on terms of good fellowship with its members is a source of great satisfaction. The working environment frequently affords the best opportunity for associating with congenial people.

SATISFACTION FROM SELF-EXPRESSION

Nature does not prescribe just the way in which native urges shall be satisfied. If there is a curiosity drive in human nature it is satisfied in a great variety of ways by different people. For one person it may be appeased by developing a mathematical formula on by searching the heavens for a new star, for another, by prying into a neighbor's private affairs or by solving a cross-word puzzle Education is a potent factor in determining what the means of satisfaction shall be, although limits are set for each individual according to his stature.

It is natural for every human being to be active both in body and mind. Such activity gives satisfaction as long it comforts a person.

THE EVOLUTION OF WANTS

Each man confronts his world with a host of active preferences, being only rarely and incidentally a mere indifferent recipient of external forces. His acts are directed; on the whole, in the interest of these desires and aversions, when he seems to be doing what he does not wish to do, it is usually because of some other want which is controlling him. It would seem that raising the general level of living will not solve the present difficulty because a satisfaction is a relative and not an absolute quantity. One's bread and cheese is likely to turn sour in the mouth at the sight of another's cake and champagne. There scarcely seems to be the increase in satisfaction of the worker that might have been expected from the elevation of the standard of living during the last fifty to seventy five years.

Two groups were created each of 60 members, in which in the first group it was seen that they are not in any kind of facilities as to keep them satisfied. This was said to be the controlled group. The second group comprised of again 60 member who were kept in the influence of all kinds of facilities. The scores obtained were of the following order.

Group	Numbers of Members	Mean Gain Score	't' Value	Level of Significance
Control Group	60	2.825	8.02	.01
Experimental Group	60	4.35		.05

It is evident from Table- B-3, that the computed 't' value of 8.02 is greater than the table 't' value of 2.65 at .01 level for 78 DF. So the null hypothesis that there will be significant difference between the mean scores of experimental group and control group is rejected. The mean scores of Experimental group has been found significantly greater than the mean score of the control group. So the level of satisfaction in the Experimental group was found to be significantly better than that by the control group.

Reference:

1. Mosso, A.F., "Fatigue (New York, G.P. Putnam's Sons, 1915)
2. Kelley, T.L., Essential Traits of Mental Life (Cambridge, Harvard University Press, 1935)
3. Young, P.T., Motivation of Behaviour (New York, John Wiley and Sons, 1936).

FACTORS AFFECTING WORK LIFE BALANCE - A REVIEW

AyushiVyas,Institute of Management Studies, Devi AhilyaVishwavidhyalaya, Indore (M.P.) – 452001
Dr. Deepak Shrivastava, Professor, Institute of Management Studies, Devi AhilyaVishwavidhyalaya, Indore (M.P.) - 452001

ABSTRACTOrganizations are under tremendous pressure to improve their performance and success in the competitive business world. Psychological empowerment increases employees' sense of personal control and motivates them to engage in work, which in turn results in positive managerial and organizational outcomes (Quinn &Spreitzer, 1997). Work-life balance has always been a concern for quality of working life and its relation to quality of life.Individuals experiencing interference between work and personal lives are also significantly morelikely to suffer from reduced psychological well-being and physical health. (Grant-Vallone&Ensher, 1998).

The literature review on Work-life Balance has been framed up in view of its gained popularity with the major aim to have prosperity of society and the realization of fulfilling lives for its employees by supporting the growth of every employee and the further development of the companies. The literature identifies various factors affecting quality life conditions i.e. Job Satisfaction, Work Stress, Career Growth, Turnover, Absenteeism, Appreciation and competitive environment in context with Work-life Balance and its practices/policies. In this paper, an endeavor has been made to provide an overview on various factors of Work-Life Balance through the review of existing literature. The sources referred include various journals, books, doctoral thesis, working papers, reports, magazines, internet sites, newspapers etc and has been reflected as references at the end.

Keywords - Work-life Balance, Family-life, Work-life, Job Satisfaction, Work Stress, Career Growth, Work-life Balance and its practices/policies and Factors.

INTRODUCTION

A well developed sense of humor is the pole that adds balance to your steps as u walk the tightrope of life - (William Arthur ward).

Work life balance is defined as "achieving satisfying experiences in all life domains to a level consistent with the salience of each role for the individual.... [that] introduces the possibility of a hierarchy of roles; however... it does not demand that a hierarchy is neither necessary nor desirable for balance"(Reiter, 2007, p.277).

Work/life is commonly referred to as work and family. To balance between the family responsibilities and work responsibilities has become a challenge for the people in many professions. Felstead, Jewson, Phizacklea and Walters (2002) defined the work life balance (WLB) strategies as those strategies which enhances the independence of employees in coordinating with the work and non-work aspects of their lives. Work- life conflict is a form of inter- role conflict where the role demands of work interferes with the role demands of home or leisure activities (Greenhaus and Beutell, 1985). The strain due to the disagreement between home and work domains has increased amongst employees in most sectors of the economy (Lewis, Gambles and Rapoport, 2007). Employees expect from their employers to address their need of work life conflict (Kossek, Dass and DeMarr, 1994). There is a dire need that organisations adopt such human resource policies and strategies that could accommodate the work and life needs simultaneously to lessen the work and family role strain (Cieri, Holmes, Abbot and Petti, 2005). Russell and Bowman (2000) asserted that the issue of work/ life balance is gaining an increasing attention by the employees related to all organisations and managing the conflict between work demands and family responsibilities have become a serious challenge for organisations.Managing rising demands from the work and family domains represented a source of high strain for many employees which even lead to the health problems among employees. Although it is believed that work family role strain is more common among women employees, but men also experience stress resulting from differing roles and demands (Burley, 1994).

The role of work has changed throughout the world due to economic conditions and social needs. Fact is, work was a matter of necessity and survival. Throughout the years, the role of "work" has evolved and the composition of the workforce has changed. Work still is a necessity but it should be a source of personal satisfaction as well. Therefore, tension and work target related pressure; work load at family makes an individual difficult to find balance between work and personal life. Professional working in industry, managers, doctors, directors, bankers, and software professionals are the few examples that are facing the brunt of hazard constantly.

A convergence of powerful trends in the early 21st century is pressuring employers to re-think their people

practices. Indeed, the timing seems right to make the quality of work life a strategic focus for business, as well as a public policy priority. These challenges (workforce aging, increasingly competitive labor market, information technology and rising benefit costs) create new possibilities for employers to achieve organizational performance goals while simultaneously meeting workers' personal goals. At the same time, so many employees are experiencing a reduced quality of work-life. This is reflected most prominently in work-life imbalance and job stress. With more women employed than ever before and dual-earner families' common, work-life balance is an ongoing quest.

A lot of people are having a more difficult time finding balance in their lives because there have been cutbacks or layoffs where they work. They're afraid it may happen to them, so they are putting in more hours, **(Psychologist - Robert Brooks define)** Work-life balance, in its broadest sense, is defined as a satisfactory level of involvement or 'fit' between the multiple roles in a person's life.**(Hudson, 2005).**

"The amount of time you spend doing your job compared with the amount of time you spend with your family and doing things you enjoy."Definition of work-life balance noun from The Cambridge Advanced Learner's Dictionary &Thesaurus © **Cambridge University Press**.

"The concept of work-life balance is based on the notion that paid work and personal life should be seen less as competing priorities than as complementary elements of a full life. The way to achieve this is to adopt an approach that is "conceptualized as a two way process involving a consideration of the needs of employees as well as those of employers" (**Lewis, 2000: p.105)**

The working conditions of work are changing: changes in technology, globalization pressures, women involvement in working, fewer young people and an expansion of the older generation.

- Almost 19 per cent of employees work in workplaces operating 24 hours a day, 7 days a week. One in eight employees work both Saturday and Sunday.
- Almost 11 per cent of employees work 60 or more hours a week typically in professional and managerial jobs.
- More than one in eight men with dependent children works 60 hours or more a week.
- 56 per cent of women preferred greater flexibility in their working arrangements to longer maternity leave on their return to work following maternity leave.(Source: Orange 2006)

Today, Industries have realized the importance of the work life balance in originations for their employees and they are trying to setting up policies for balancing a work life balance. Companies are trying for innovative methods to keep their employees happy and satisfied, so it makes office environment better for working and also positively impact productivity of employees.

REVIEW OF LITRATURE

Work-life balance refers to people having enough time to have balance in their job and home life. Karakas and Lee, (2004) explained work life balance issues as spending good time with family members, getting free time to be able to relax for emotional wellbeing and health of family members , having good communication and support from the fellow colleagues, obtaining high quality child care and education; and being satisfied with the work load. According to the study of Kinman (2001), the strongest factor of psychological distress and job dissatisfaction was related to work life conflict. He found out that over half of the academics surveyed complained that they have to regularly work at home during the evenings which cause stress. Netemeyer, Boles and McMurrian (1996) asserted that majority of the employees reported that they remained preoccupied with work issues even after leaving the workplace and feel difficulties in sleep at home.

The demand from organisations to attend to the family responsibilities of employees has been increasing due to the rise in the number of single parent's households and dual earners (Goodstein, 1994). Elliott (2003) explained that major problem faced by the working parents of children, aged six or younger, is to afford high quality child care which is costly and consumed a large portion of income and reduces the likelihood that the mother will be employed. The double burden of child care and elder care puts more emotional burden on women than on men. In reality, it is still women who keep hold of the major responsibilities for childcare and are much more likely to work part-time, sparing time for family responsibilities (Daly and Lewis, 2000). Gerson (1993) explained that fathers also experienced tension in child caring as their working wives are not present at home to look after their kids. Thus, in early decades of twentieth century some large companies felt the need that employers should allow free time and energy to workers to look after their children. Child care facility thus

positively affected employee's decisions to remain employed at the company (Kossek and Lambert, 2004). Ross and Mirowsky (1988) demonstrated that employed mothers who felt difficulty making child-care arrangements suffered from high depression. Research by Jaffrey and Karen (1991) indicated that relative to childcare, elder care involves more unexpected care giving situations, and it is more difficult to manage and causes greater levels of stress for the care provider. Greenberger *et al.,* (1989) showed that married women often spend a lot of time and energy in taking care of their in laws, especially the parents of their husbands, in short the principle care givers for the elders are women, who provide care in their roles as wives, daughters and daughter in laws. In addition, because many women who care for the elders also care for the children as primary caregivers they become more accustomed to care giving as compared to men (Blair and Litcher 1991). Like child care, eldercare can adversely impact employees personally, and professionally as well as emotionally, and financially. The impact of elder care on professional lives of employees includes increased absenteeism, sluggishness, a reduction in work hours, unavailability for overtime work, a shift from full-time to part-time work, and in some cases early retirement. (Ross and Mirowsky, 1988).Not only the elder care responsibilities have affected the employed workers but also prevented some people to enter the work force (Frone, Russell and Cooper, 1992). The cost of elder care manifests not only in economic and financial terms but also in terms of caregiver's overall health. Caregivers report feelings of depression, isolation, loneliness and stress due to their care giving obligations (Kossek and Lambart, 2004).

According to Sullivan and Lewis (2006) schedule inflexibility increased depression in both men and women and increased physical distress such as insomnia, appetite problem, tension related aches and pain. Christensen and Staines (1990), found that flexitime programs decreased late comings, absenteeism, and turnover. In their research, Thomas and Ganster (1995) have found a positive association between flexitime policies and job satisfaction. They concluded that flexible time policies enhanced employee productivity by decreasing absenteeism and turnover, and positively served families by decreasing depression in employees as families get more time to spend together which reduces work/ family conflict.

Gilbert (2002) stated that longer working hours though reduces general family satisfaction, but workers who are more committed to their work reported significantly higher family satisfaction as compared to the workers who are less committed to their work. So it is not only the work timings that affect family but the behaviour of workers towards their jobs that affect their family life.

Greenhouse and Powell (2003) have suggested that certain working conditions, such as time flexibility can mitigate the negative effects of work demands on family life.

New requirements at jobs have brought an increased workload. Professional lives characterised by more and more challenges, frequently changing assignment, work and time schedules, job insecurity and frequent relocations are some of the factors which cause work life strain. Most of the faculty new to the campus report that they feel isolated, and they are often besieged due to unclear expectations and heavy workloads (Luce and Murray, 1998).

Frone (2000) found that work-home conflict equally affected the health of men and women whereas Emslie, Hunt and Macintyre, (2004) did not find any significant gender differences in perceptions of work-home conflict. According to the study by Thompson *et al.* (1998), it is a general perception that organisations with lower level of work life conflict possess supportive organisational culture. Kossek, Dass and DeMarr (1994) explained that one of the reasons of the work life strain is a lack of integration between the employee's life and organisation's goals. He further asserted that negative culture, poor working environment and bad attitudes of supervisors create barriers to the implementation of work life balance.

Roehling and Moen (2001) predicted that earnings (salary), schedule flexibility, family friendly work policies, and supportiveness of colleagues are related to work and life strain. Non supportiveness of colleagues affects the employee loyalty negatively. They further found that a partner with unstable or low income increases the financial burden on other partner.

Smith and Smith (2008) found that future accountants give high importance to work-life balance in making career decisions and they feel that a healthy work-life balance positively affects their job performance. They further explained that Maslow's hierarchy theory and McClelland's motivational needs theory provide theoretical support for understanding people's motivation to achieve a healthy work-life balance. According to Kinman and Jones (2008), reward imbalance is one of the reasons of work stress among the employees. In their study, schedule flexibility and the autonomy of the employee in his work were found to be a key predictor of work- life balance. Parasuraman and Simmers (2001) also found that self-control or

having autonomy in the work can help individuals to schedule work in a way that reduces the likelihood of work-family conflict. A study by Warren and Jhonson (1995) showed that managing dependence on colleagues at the job increases social demands and stress. Personal problems with colleagues affect the employees psychologically and make it difficult for them to manage household work effectively.

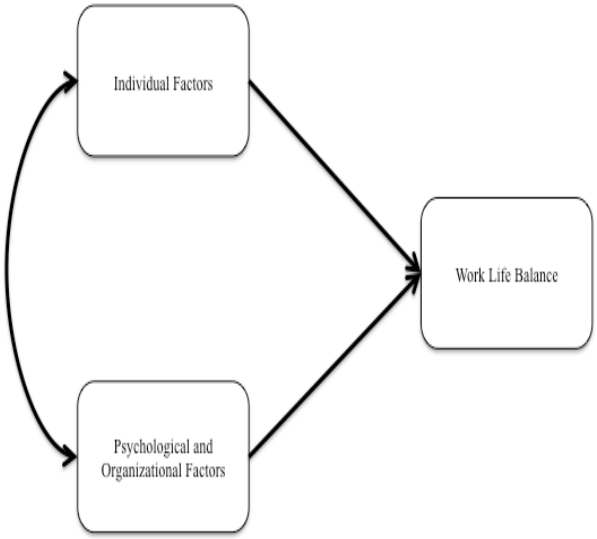

Figure **.**Conceptual Model of the Factors Affecting Work Life Balance.

There are various factors which affect work-life balance and had been studied by various authors. These factors could be related to an individual, family-related, work-related and family and work-related. A number of researchers like Adams et al. (1996), Duxbury and Higgins (2001), Martins et al. (2002), Fisher-McAuley et al. (2003), Schieman et al. (2003), Ezzedeen and Swiercz (2002), and Haar and Bardoel (2008) found that work life balance /work family conflict affects job satisfaction, family satisfaction, life satisfaction, career satisfaction and job stress. Higgins (2001) examined the effects of three types of work family conflict – role overload (having too much to do), work to family interference and family to work interference on the organizational performance and quality of life of employees, parental status) and sources of support (co-workers, community, financial resources) on the negative relationship between work- family conflict and career satisfaction. Fisher-McAuley et al. (2003) examined the relation between employees' beliefs about having a balance between work and personal life, and the feeling of job stress, job satisfaction, and reasons why one might quit his/her job.In this paper, an endeavor has been made to provide an overview on various factors of Work-Life Balance through the review of existing literature, which led to emergence of eleven factors. These factors are :

The first factor which was identified through Analysis was Social Support. Social Support is an important factor which contributes to work-life balance. When people have social support from work and family, they can balance their lives with proper peace and harmony. With the usage of technology, it becomes easier to balance work and family domains.

The second factor which was identified through Analysis was related to Organizational Issues. Organization plays an important role in initiating work-life balance policies for its employees. If organization emphasizes on proper work-life balance policies, it can lead to better performance and employee satisfaction.

The third factor which emerged through Analysis was Stress Issues. Stress is the major cause of unhappiness among employees, whether it is real or imagined. Stress being one of the major factors which affects work-life balance of employees leading to fatigue, mental illness, depression, heart diseases, and ultimately loss in productivity.

The forth factor which emerged out of Analysis was Information Technology. IT is one of the major factors of work-life balance as it helps in providing 24*7 accessibility and connectivity.

The fifth factor emerged through Analysis was Work Issues. Work being an important factor affects work-life balance of employees, as if there would be work overload, it would increase stress level and it will create an imbalance in the lives of the employees.

The sixth factor which was identified through Analysis was Family Issues. Family holds an important place in a person's life. If an individual is happy and gets social support from his family, then it enhances work-life balance. If an individual is unhappy from family, it may create work related stress and conflicts.

The seventh factor identified through Analysis was Social Issues. An individual can't live in isolation. There are certain social duties which he needs to fulfil in order to keep his life at peace and harmony.

The eighth factor which emerged through Analysis was Supportive Factor from organization. An employee to

be committed and involved in the organization must require support from his organization which can enhance his performance and balance his work-life too.

The ninth factor emerged through Analysis was Work overload factor. Work overload is playing a crucial factor in increasing the stress level and creating imbalance at work as well as in family.

The tenth factor which was identified through Analysis was Individual Issues. An individual is responsible for creating a proper balance between work and family if he is able to manage both the responsibilities and manage himself also.

The eleventh factor which was identified through Analysis was Lack of Knowledge. Lack of knowledge is a factor which creates problem as individual is unaware about the issues that are emerging related to work-life balance in this changing scenario and how can IT help in creating a balance.

CONCLUSION

Rapoport and Bailyn (1996) addressed in a report to the Ford Foundation that ―The separation of work life from family life has existed since the Industrial Revolution and remains largely intact today even though it has never reflected the way most people live. The business world has responded to work-family issues with an array of programs and policies that address specific family needs but do not change this basic assumption that employees' work and private lives are separate and conflicting‖ . However, Work-family research has long been guided by the role stress theory, wherein the negative side of the work-family interaction has been put under the spotlight. Recently, the emphasis has shifted towards the investigation of the positive interaction between work and family roles as well as roles outside work and family lives, and scholars have started to deliberate on the essence of work-life balance (Jones et al., 2006).

Today, Industries have realized the importance of the work life balance in originations for their employees and they are trying to setting up policies for balancing a work life balance. Companies are trying for innovative methods to keep their employees happy and satisfied, so it makes office environment better for working and also positively impact productivity of employees.A convergence of powerful trends in the early 21st century is pressuring employers to re-think their people practices. Indeed, the timing seems right to make the quality of work life a strategic focus for business, as well as a public policy priority. These challenges (workforce aging, increasingly competitive labor market, information technology and rising benefit costs) create new possibilities for employers to achieve organizational performance goals while simultaneously meeting workers' personal goals. At the same time, so many employees are experiencing a reduced quality of work-life. This is reflected most prominently in work-life imbalance and job stress. With more women employed than ever before and dual-earner families' common, work-life balance is an ongoing quest. Furthermore, there are many signs that job performance expectations have been ratcheted up since the 1990s. Thus, with both employers and employees under pressure to find ways to improve the quality of work life — and through this, enabling employees to contribute their best efforts — surely there is common ground for action.

Every person's individual factors are affecting perceptions of work-life balance include orientation to work and in particular the extent to which work (or home) is a central life interest and aspects of personality including need for achievement and propensity for work involvement. Energy levels are often ignored but in the context of high demand need to be taken explicitly into count. They may be linked up to issues of self control, including center of control and stamina for coping with pressures of competing demands.

By looking at the factors affecting work life balance, result indicates that spousal supportiveness at home and colleague supportiveness at work contribute positively to work life balance, whereas child care problems, elder dependency at home and unfair criticism at work place contributed negatively towards work life balance.Thus, finding of this research shows eleven factors which have been identified related to work-life balance. Out of eleven factors, social support, Organizational factors, Stress factors, and IT factors are the major factors which affect the work-life balance of an individual.

The outcomes of work-life balance are numerous. Again that outcomes may be related to personal satisfaction of a person and well-being at work place, at house and in life as a whole, to somewhat more objective indicators of behavior and performance at work and at home and to impact on others including work colleagues and family and friends. Any one of these could be developed in some detail and at present serve to illustrate the richness of the potential research agenda.

REFFERENCES :

1. Adams, G.A., King, L.A., & King, D.W. (1996). Relationship of job and family involvement, family social support, and work-family conflict with job and life satisfaction. Journal of Applied Psychology, 81(4), 411-420.
2. TD. A (2001). Family-supportive work environments: The role of organizational perceptions. Journal of Vocational Behavior, 58, 414–435.
3. Chesley, N. 2005. Blurring Boundaries? Linking Technology Use, Spillover, Individual Distress and Family Satisfaction. Journal of Marriage and the Family, 67, 1237-1248.
4. Clark, S. C. (2000). Work/Family Border Theory: A New Theory of Work/Family Balance. *Human Relations*, *53*(6), 747-770.
5. Duxbury, L. & Higgins, C. (2003). Work–life conflict in Canada in the new millennium: A status report (Final Report). Retrieved March 23, 2005, from http://www.hc-sc.gc.ca/pphb-dgspsp/publicat/worktravail/report2/.
6. Duxbury, L. (2004). Dealing with work-life issues in the workplace: Standing still is not an option. The 2004 Don Wood Lecture in Industrial Relations. Retrieved January 4, 2007, from http://irc.queensu.ca/gallery/1/dwls-linda-duxbury-on-work-life-conflict.pdf
7. Ezzedeen, S.R., &Swiercz, P.M. (2002). Rethinking work-life balance: Development and validation of the cognitive intrusion of work scale (CIWS)—A dissertation research proposal. Proceedings of the 2002 Eastern Academy of Management Meeting quoted in Lockwood, N. R. (2003). Work/Life Balance: Challenges 79 and Solutions, Society for Human Resource Management: Research Quarterly, 2, 1-10.
8. Fisher-McAuley, G., Stanton, J., Jolton, J., & Gavin, J. (2003). Modeling the relationship between work life balance and organizational outcomes. Paper presented at the Annual Conference of the Society for Industrial-Organizational Psychology. Orlando, April 12, 2003, 1-26.
9. Frissen, V. A. J. "ICTs in the Rush Hour of Life," The Information Society (16), 2000, pp. 65-75
10. Frone, M. R. (2003). Work-family balance. InJ. C. Quick & L. E. Tetrick (Eds.), Handbook of occupational health psychology (pp. 143–162). Washington, DC: American Psychological Association.
11. Grzywacz, J.G. (2002). Toward a theory of work-family enrichment. Paper presentation, 34th Annual Theory Construction and Research Methodology Workshop, November, Houston, TX.
12. Gutek, B.A., Searle, S. and Klepa, L. (1991). Rational versus gender role explanations for work-family conflict. Journal of Applied Psychology, Vol. 76, pp. 560-568.
13. Hammer L.B., Allen, E., & Grigsby, T.D. (1997). Work family conflict in dual earner couples: within individual and crossover effects of work and family. Journal of Vocational Behavior, 50, 185-203.
14. Haar, J.M., &Bardoel, E.A. (2008). Positive spill over from the work- family interface: a study of Australian employees. Asia Pacific Journal of Human Resources, 46(3),275-287.
15. Hammer L, Kossek E, Yragui N, Bodner T, Hanson G. (2009). Development and validation of a multidimensional scale of family-supportive supervisor behaviors (FSSB) Journal of Management, 35, 837–856. [PMC free article][Pub Med]
16. Hill, E. J., Hawkins, A. J., Ferris, M., & Weitzman, M. (2001). Finding an extra day a week: The positive influence of perceived job flexibility on work and family life balance. Family Relations,50(1), 49-65.
17. Jeffrey D. and Karen S. (1991) 'Elder Care as Family Labor: The Influence of Gender and Family Position', *Journal of Family Issues*, pp.219-230.
18. Ross, C.E. and Mirowsky J. (1988) 'Childcare and emotional adjustment to wives' employment', *Journal of Health and Social Behavior*, Vol.29, pp.27–38.
19. Smith, E., Anderson, J.L. and Lovrich, N. P. (1995) 'The multiple sources of workplace stress among land-grant university faculty', *Research in Higher Education*, Vol.36, No.3, pp.261-282.
20. Smith, K. T., Smith, L. M. and Smith, T. R., (2008) 'An Examination of Work- Life Balance Perspectives of Accountants'.
21. Sullivan, C. and Lewis, S., (2006) 'Relationships between work and home life', in Jones, F., Burke , R. and Westman, M. (Eds), Managing the Work- Home Interface: A Psychological Perspective, Taylor and Francis, London.
22. Thompson, C.A., Beauvais, L.L. and Lyness, K.S. (1998) 'When work-family benefits are not enough: the influence of work-family culture on benefit utilization, organizational

attachment, and work-family conflict' *Journal of Vocational Behavior*, Vol.54, pp.392-415.
23. Thomas, L.T. and Ganster, D.C. (1995) 'Impact of Family-supportive Work Variables on Work Family Conflict and Strain: A Control Perspective', *Journal of Applied Psychology*, Vol.80, No.1, pp.6–15.
24. Warren J.A. and Johnson P.J (1995) 'The impact of workplace support on work-family role strain', *Family Relations*, Vol.4, No.1, pp.63–69.
25. Winefield, A.H., Gillespie, N., Stough, C., Dua, J., Hapuarachchi, J. and Boyd, C. (2003), 'Occupational stress in Australian university staff', International *Journal of Stress Management*, Vol.10, No.4, pp.51-63.
26. Netemeyer, R.G., Boles, J.S. and McMurrian, R. (1996) 'Development and validation of work-family conflict and family-work conflict scales', *Journal of Applied Psychology*, Vol.81, pp.400-410.
27. Felstead, A., Jewson, N., Phizacklea, A. and Walters, S. (2002) 'Opportunities to Work at Home in the Context of Work–Life Balance', *Human Resource Management Journal*, Vol.12, No.1, pp.54-77.
28. Fisher, S. (1994) *Stress in Academic Life: The Mental Assembly Line*, Open University Press, Buckingham.
29. Frone, M.R. (2000) 'Work-family conflict and employee psychiatric disorders: The National Comorbidity Survey', *Journal of Applied Psychology*, Vol.85, No.6, pp.888-895.
30. Frone, M.R., Russell, M. and Cooper, M.L. (1992) 'Antecedents and Outcomes of Work-Family Conflict: Testing a Model of the Work-Family Interface', *Journal of Applied Psychology*, Vol.77, No.1, pp.65-78.
31. Edwards, M. (2002) Move beyond e-mail and Internet access. Communications News, 39 (7), July, p.44
32. Guest, D.E. (2002). 'Perspectives on the Study of Work-Life Balance', Social Science Information, 41: 255-279.
33. UthpalaSenarathneTennakoon. (2007). Impact of the use of communication technology on the work life balance of executive employees.
34. The Work Foundation. (2005). Work Life Balance-Introduction. Retrieved March 22, 2007, from http://www.employersforwork-lifebalance.org.uk/work/definition.htm
35. Improved Work-Life Balance. (2006). The Role of ICT Orange, Retrievedfromhttp://www.**orange**coalition.com/whitepapers/download.php/6
36. Google Retrieved from https://www.google.co.in/

शिक्षा का अधिकार अधिनियम, 2009 के प्रति अभिभावकों में जागरूकता का अध्ययन

निर्देशक डॉ (श्रीमती) सी. भसीन एम. ए. (मनोविज्ञान), एम.एड., पी–एच.डी पूर्व रीडर शासकीय शिक्षा महाविद्यालय जबलपुर (म.प्र.)
शोधकर्ता नियति शम्भरकर एम.एससी., एम.एड.,नेट

मानव का विकास ही इस तथ्य पर आधारित है कि वह जीवन के प्रत्येक चरण में सीखता है और यह प्रक्रिया जीवनपर्यंत चलती है किंतु यदि सीखने का सही मार्ग ज्ञात हो जाए तो साधारण परिस्थितियों में भी अवसर तलाशे जा सकते है इसी अवसर की तरह यह शिक्षा का अधिकार अधिनियम ,2009 है जिससे प्रत्येक बालक को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। प्राचीन काल में शिक्षा प्राप्त करने के लिए बहुत संघर्ष था जो इस अधिनियम के लागू होने के पश्चात् समाप्त हो जाता है। निःशुल्क और अनिवार्य बाल शिक्षा का अधिकार अधिनियम, 2009 भारतीय संविधान के 86 वें संविधान संशोधन अधिनियम 2002 को मूल अधिकार घोशित करने के बाद अस्तित्व में आया जिसे संविधान के अनुच्छेद 21 में नई धारा 21–(क) में शामिल किया गया है। भारत के राजपत्र भाग–II खण्ड–3 उप खण्ड (ii) (फरवरी 19,2010) में प्रकाशित हुआ अप्रैल 2010 से भारत के सभी राज्यों जम्मू तथा कश्मीर को छोड़कर शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 प्रभाव में है। इस अधिनियम के मुख्य प्रावधान निम्न है

- 6 से 14 आयुवर्ग के सभी बच्चों को मुफ्त एंव अनिवार्य शिक्षा।
- प्रवेश हेतु जन्म प्रमाण पत्र एवं स्थानातरंण प्रमाण पत्र की बाध्यता नहीं है।
- किसी भी बच्चे को किसी भी कक्षा में रोके रखने अर्थात् कक्षा 8 तक फेल करने पर प्रतिबंध।
- बच्चों को शारीरिक दण्ड देने एवं मानसिक रूप से प्रताड़ित करना प्रतिबंधित।
- समस्त बच्चों के लिये उनके निर्धारित पड़ोस में शिक्षा की सुविधा 3 वर्ष में उपलब्ध कराने की राज्य सरकार की बाध्यता है।
- नियुक्ति हेतु शिक्षकों की शैक्षणिक योग्यता का निर्धारण केन्द्र सरकार द्वारा प्राधिकृत अकादमिक प्राधिकरण द्वारा किया जाना है।
- निर्धारित योग्यता अनुरूप शिक्षकों की व्यवस्था 5 वर्ष में सुनिश्चित करना।
- अप्रशिक्षित शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था।
- शिक्षा द्वारा प्राईवेट ट्यूशन प्रतिबंधित।
- शिक्षकों के वेतन एवं सेवा शर्तो का निर्धारण।
- शिक्षकों का गैर शिक्षकीय कार्य में लगाना प्रतिबंधित –दशकीय जनगणना, चुनाव एवं आपदा राहत को छोड़कर।निर्वाचित प्रतिनिधियो, अभिभावक एवं शिक्षक की शाला प्रबंधन समिति के माध्यम से सामुदायिक सहभागिता को बढ़ावा।केपिटेशन फीस पर प्रतिबंध।प्रवेश के लिये स्क्रीनिंग प्रतिबंधित–चयन रेंडम आधार पर।बिना मान्यता के किसी भी स्कूल का संचालन नहीं।गैर अनुदान प्राप्त शालाओं के लिये अपने पड़ोस के 25 प्रतिशत बच्चों को निःशुल्क शिक्षा प्रदाय।प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर एक निशिचित छात्र शिक्षक अनुपात को सुनिश्चित करना।समस्त शालाओं शासकीय/निजी में न्यूनतम अंधोसंरचना (शाला भवन, शौचालय, किचन शेड, खेल का मैदान, बाउंड्री वाल, लाईब्रेरी तथा आवश्यक पठन–पाठन सामग्री व उपकरण आदि) की उपलब्धता तीन वर्ष में सुनिशचित करना। बालकों को गुणवत्तापूर्ण प्राथमिक शिक्षा की उपलब्धता सुनिश्चित करना। सतत् तथा व्यापक मूल्यांकन की व्यवस्था करना। विद्यालय में प्राथमिक शिक्षा अकादमिक कैलेण्डर का परिपालन किया जाना। अनामांकित एवं शाला से बाहर बच्चों के लिये विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था करना। अशासकीय स्कूलों को मान्यता प्रदान करने हेतु प्राधिकृत अधिकारी तथा प्रक्रिया तय करना। शिक्षकों के वेतन भत्ते तथा सेवाशर्तो का निर्धारण।अधिनियम के प्रभावी क्रियान्वयन हेतु सलाह देने हेतु राज्य सलाहकार परिषद् का गठन किया जाना। अशासकीय शालाओं में 25 प्रतिशत बच्चों के लिये फीस की प्रतिपूर्ति हेतु प्रक्रिया तय करना और उनका नामांकन सुनिश्चित करना। समाचार पत्रों के माध्यम से जानकारी प्रदान करना। जिला स्तर पर जनप्रतिनिधियों, गैर शासकीय संस्थाओं के साथ कार्यशाला का आयोजन।

जिला एवं विकासखण्ड के समस्त संबंधित विभागों के अधिकारियों का शिक्षा का अधिकार अधिनियम पर उन्मुखीकरण। जनशिक्षकों का उन्मुखीकरण। जिला स्तर पर शिक्षा से संबंधित समस्त कार्यालयों में कंट्रोल रूम की स्थापना। प्रारंभिक स्तर की गैर अनुदान प्राप्त/अनुदान प्राप्त शालाओं के प्रबंधकों की बैठक का आयोजन कर उन्मुखीकरण एवं तैयारी कराना। जनशिक्षा केन्द्र स्तर पर शिक्षकों का उन्मुखीकरण कराना। प्राथमिक शिक्षा में प्रवेश के लिए बच्चे के उम्र के साक्ष्य का निर्धारण जन्म प्रमाण पत्र, विवाह एंव मृत्यु का पंजीकरण 1856 या ऐसे अन्य कागजात के आधार पर किया जाएगा जो उसे जारी किया गया हो, आर्थिक रुप से कमजोर समुदाय को सभी निजी स्कूलों में दाखिला लेने के लिए 25 प्रतिशत का आरक्षण, शिक्षा की गुणवत्ता में अनिवार्य सुधार, अध्यापकों को पांच

वर्ष के भीतर समुचित व्यावसायिक डिग्री प्राप्त करना आवश्यक है,स्कूल का बुनियादी ढ़ांचा जहां यह एक समस्या है तीन वर्ष के भीतर सुधारा जाए अन्यथा उसकी मान्यता रद्ध की जा सकती है, प्राथमिक शिक्षा पूर्ण होने तक विद्यार्थी को विद्यालय से नही निकाला जा सकता है।

प्राथमिक शिक्षा का गुणवत्तापूर्ण सार्वभौमिक होना तथा सुलभ होना किसी भी राष्ट्र की प्रगति को सुनिश्चित करता है बल्कि मानव को उसके जीने की कला भी सिखाता है। इस सदंर्भ में भारत ही नही अन्य देशों (दुनिया में 135 देश है जहॉ शिक्षा एक मूल अधिकार है।) में समय समय पर योजनाएँ एवं नियम बनाए गए एंव अमल में लाये गये है।

अध्ययन का महत्व : अभिभावक बालक के संरक्षक होने के साथ ही उसके भविष्य निमार्ण की एक महत्वपूर्ण कड़ी होते है। उसके लद्यु या उच्च हर प्रकार का निर्णय वही लेते है। इस स्थिति में उसे बालक से संबधित लिए जाने वाले निर्णयों के हर पक्ष को जानना आवश्यक है। ऐसा होने पर अभिभावक बालक को एक बेहतर दिशा के साथ सही दशा का भविश्य प्रदान कर सकते है। चूंकि शिक्षा का अधिकार अधिनियम, 2009 के लागू होने के पश्चात् प्रत्येक बालक को शिक्षा प्रदान करना सरकार का दायित्व है और ऐसा नही करने पर बालक इसके विरूद्ध न्यायालय में याचिका दायर कर सकता है। कई बार अभिभावक सामाजिक या आर्थिक कारणों से अपने बालक को विद्यालय में नामांकित नही करते है। इन सब परिस्थितियों के चलते अभिभावकों को शिक्षा का अधिकार अधिनियम, 2009 के प्रति जागरूक होना आवश्यक है।

उद्देश्य:प्राथमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के अभिभावकों में शिक्षा का अधिकार अधिनियम के प्रति जागरूकता का अध्ययन करना।

परिकल्पना :प्राथमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के अभिभावक शिक्षा का अधिकार अधिनियम, 2009 के प्रति पर्याप्त जागरूक होंगे।

न्यादर्श:शोध कार्य के लिए बालाद्याट जिले केप्राथमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के 200 अभिभावकों को यादृच्छिक न्यादर्श विधि द्वारा चयनित किया गया।

उपकरण:प्रस्तुत शोध के लिए स्वनिर्मित प्रश्नावली का उपयोग किया गया जिसमें जागरूकता से संबधित 10 प्रश्न थे। प्रश्नों का उत्तर देने के लिए दो विकल्प थे। प्रतिक्रिया देने के लिए समय का बंधन नही था।

प्रदत्त संकलन :प्रदत्तों का संकलन करने के लिए प्राथमिक विद्यालयों से अभिभावकों का पता लेकर उनसे सम्पर्क किया गया तथा कुछ अभिभावकों से विद्यालयों की बैठकों के दिवसों में सम्पर्क किया गया।

प्रदत्त विश्लेशण: प्रदत्तों का विश्लेशण करने के लिए प्रतिशत सांख्यिकी का उपयोग किया गया।

परिणाम तथा विवेचना: 80 प्रतिशत अभिभावकों में शिक्षा का अधिकार अधिनियम, 2009 के प्रति जागरूकता पाई गई। वर्तमान समय में समाचार पत्र, टेलीविजन, मोबाइल, इन्टरनेट की पहुँच आम आदमी तक हो गई है और यह सूचना के सरल तथा प्रभावी साधन है इसलिए इतने अभिभावक जागरूक पाए गए। कुछ अभिभावक जिनमें जागरूकता नही है संभवतः इन साधनों की कमी या अशिक्षा के कारण जागरूक नही है।

निष्कर्ष: चूंकि 80 प्रतिशत अभिभावक अधिनियम के प्रति जागरूक है अतः परिकल्पना ''प्राथमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के अभिभावक शिक्षा का अधिकार अधिनियम, 2009 के प्रति पर्याप्त जागरूक होंगे।'' स्वीकृत की जाती है।

शैक्षिक महत्व: अभिभावकों के जागरूक होने से विद्यालय में विद्यार्थियों के नामांकन तथा ठहराव में वृद्धि होगी ।अधिनियम के तहत मिलने वाले लाभों की पहुँच प्रत्येक बालक तक हो सकेगी।शासन को अपनी योजनाओं के क्रियान्वन में सहायता प्राप्त होगी।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. शर्मा,डा. रामबीर एंव सैनी, रीता(2012) इम्पलीमेंटेशन ऑफ आर टी ई एक्ट, 2009 इन रूलर इंडिया: *इन्टरनेशनल रिफर्ड रिसर्च जनरल.* 2(19)
कुरियन, जे. (2012) आर.टी.ई. कांस्टीट्युशनली वेलिडः सुप्रीम कोर्टः *अवर राइट्स.* 3(5), 3–4

2. बुच, एम.बी. (1988–92). फिफ्थ सर्वे ऑफ एजुकेशनल रिसर्च. नई दिल्लीः एन.सी.ई.आर.टी.

3. बलुच, एम. यू. एच. एंव शाहिद एस. (2008) डिटरमिनेंनट्स ऑफ इनरोलमेंट इन प्रायमरी एजुकेशन ए केस स्टडी ऑफ डिस्ट्रिक लाहौर : *पाकिस्तान इकोनामिक एण्ड सोशल रिव्यूव.* 46(2), 161–200

4. भारिल्य, आर. एंव डॉ. प्रियरंजन (2012) शिक्षा का मौलिक अधिकार एंव चुनौतियॉ : *रिसर्च लिंक.* 11(4), 74–76

वेबसाइट्स

- www.cid.harvard.edu/archive/india/pdfs/report.pdf
- http://eoc.du.ac.in/RTE%20-%20notified.pdf
- http://www.ncert.nic.in/publication/journals/journals.html
- http://www.nuepa.org/Pub_Pripreksh.html
- http://www.ssa.nic.in/
- http://www.educationportal.mp.gov.in/

पौराणिक वास्तु में गृह–पर्यावरण–विचार

डॉ. रीझन झारिया, संस्कृत पालि एवं प्राकृत विभाग, रा.दु.वि.विद्यालय जबलपुर

गृहनिर्माण पर पर्यावरण का सबसे विशेष महत्त्व होता है, पर्यावरण की शुद्धता, शुद्ध वायु, शुद्ध जल, शुद्ध प्रकाश, शुद्ध आकाश एवं शुद्ध भूमि पर निर्भर है गृहवास्तु भी वायु, जल, अग्नि, आकाश एवं पृथ्वी इन पांचों तत्वों के अनुपातिक सन्तुलन का नाम है। अतः गृहनिर्माण में वास्तु एवं पर्यावरण का गहरा सम्बंध है। इनको एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि यदि इन पांच तत्त्वों पर आधारित वास्तु गलत है तो पर्यावरण भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा, सम्भवतः पर्यावरण गृहनिर्माण में सबसे प्रमुख महत्त्व रखता है जिससे गृह में शुभ शांति होती है।[1]

(समरांगण वास्तु एवं पर्यावरण पृक्र 141)

गृह–निर्माण पर हमारे जीवन पर पर्यावरण की शुद्धता होना अति आवश्यक होता है और इन पर्यावरण की आवश्यकता के लिए वृक्षों का होना अति आवश्यक होता है। गृह में पर्यावरण होने से गृह में वातावरण शुद्धता होती है और इन शुद्धता के लिए वृक्षों का अति महत्त्व होता है वृक्ष हमारे जीवन व वातावरण को शुद्धता रखते है जिससे गृह में गृह स्वामी व परिवार में बीमारी नहीं होती है तथा शुद्ध हवा के कारण आसाध्य रोगों का सामना नहीं करना पड़ता, जिस कारण गृह–निर्माण में वृक्ष पर्यावरण का विशेष योगदान है, हमारे जीवन में पर्यावरण में भी भवन प्राकृतिक संसाधनों के अनूकूल, स्थापत्य एवं वास्तु–सूत्रों से आबद्ध हो ताकि उसमें रहने वाले प्राणी पूर्ण रूप से स्वस्थ, सुखी व सम्पन्न हो। यही पर्यावरण में वास्तु का उद्देश्य है। वाराहमिहिर के अनुसार वास्तु का उद्देश्य इस श्लोक इहलोक एवं परलोक दोनों की प्राप्ति है। महर्षि नारद कहते हैं।

अनेन विधिना सम्यग्वास्तुपूजां करोतियः
आरोग्यमं पुत्रस्यभं च धान्यं लभेन्नरः।।[2]

(पर्यावरणवास्तुशास्त्र १/अ/१३)

इस विधि से सम्यक प्रकार से जो वास्तु (भवन विद्या) का सम्मान पूजा करता है। वह मनुष्य, पुत्र, धन. धान्यादि का लाभ प्राप्त करता है। सही 'वास्तु' के अभाव में गृह में रहने वाले व्यक्ति के पत्नि की मृत्यु पुत्रपौत्रादि का नाश, धननाश, मानसिक अशांति, रोग बैचेनी एवं विभिन्न प्रकार के उपद्रवों की प्राप्ति होती है।

गृह पर्यावरण में इसका प्रभाव गृह में निवास करते समय उसकी बनावट दिशाएं एवं गृह में तत्त्वों के उचित समावेश का तो हमारे जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, साथ ही हमारे गृह के आस–पास के वातावरण, उगने वाले पेड़–पौधें, समीपवर्ती गृहों का भी शुभाशुभ प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ता है। इस अध्याय में हम इसी प्रकार के गृह के आस–पास की वस्तुओं वृक्षों आदि के शुभा–शुभ प्रभाव का वर्णन करते हैं।

मनुष्य के कल्याणार्थ वास्तुशिल्प–शास्त्रों में वृक्षों की वास्तु एवं वृक्षों का वास्तुदोष निवारण में प्रयोग का विस्तृत वर्णन किया गया है। मत्स्यपुराणं में भगवान मत्स्य ने दुर्ग–निर्माण की विशद जानकारी दी है, उसी में गृह में लगाये जाने वाले एवं न लगाये जाने वाले वृक्षों, लताओं, झाड़ियों आदि का भी वर्णन है साथ ही वनस्पति–जन्य औषधियां का भी वर्णन किया गया है।[3]

मत्स्यपुराण २१८/३/८६१)

वृक्ष, गृह एवं वास्तुः– घर के सामने लॉन में या पिछवाड़े में पेड़–पौधे लगाना लोग पसंद करते हैं। इस सम्बंध में वास्तु–शास्त्र के विद्वानों का अलग–अलग मत है। लॉन या पिछवाड़े में पेड़ या पौधों के गमले लगाने से परिवेश में सुंदरता आती है जो गृह पर्यावरण का एक विशेष महत्त्व रखता है।

गृह के बाहर बड़े वृक्ष लगाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वृक्ष गृह से इतनी दूर लगाये जाएं कि प्रातः 9 बजे से लेकर तीसरे पहर तीन बजे तक पेड़ की छाया मकान पर ना पड़े। घर के पूर्व दिशा में बरगद, दक्षिण में गूलर, पश्चिम दिशा में पीपल और उत्तर दिशा में बेल का वृक्ष लगाना प्राचीन शास्त्रों के अनुसार शुभ माना गया है। लेकिन कुछ विद्वानों के मत से समस्त पेड़ घर के लॉन में अशुभ होता है।

मकान के पास कांटे वाले पेड़ जैसे– बेर की झाड़ी, अकोल्ह तथा दूध वाले पेड़ जैसे महुआ आदि नहीं लगाना चाहिए। इन्हें कटवा देना चाहिए यदि किसी कारण वश इन्हें कटवाया न जा सकता है तो इन वृक्षों की ओर मकान के बीच में शुभ–दायक वृक्ष जैसे– शाल, अशोक, पुत्रांग (नाग केशर) अरिष्ट, मौलश्री (बकुल) कटहल आदि को लगा देना उचित है इससे उनका दोष गृहस्वामी पर नहीं लगता।

घर के सामने आंगन में या लॉन (बगीचा) में गुलाब, गेंदा, रात की रानी, बेला आदि सुगंधित फूलों के

पौधे प्रायः गमलों में या ऐसे ही लगाये जाते हैं। अशोक के पेड़ भी प्रायः घरों के सामने लगाए जाते हैं। इन पेड़ों का कोई अशुभ फल नहीं होता। वरन् ये तो गृह के पर्यावरण को शुद्ध रखते हैं।

घर में तुलसी का पौधा अवश्य लगाना चाहिए, यह कृमिनाशक है तथा दूषित वायु को शुद्ध करता है। तुलसी आरोग्य के लिए प्राकृतिक अमर संजीवनी है। यह सौ हाथ तक वायुमण्डल को विशुद्ध करती है। रविवार को रवि संयोग से दूषित रश्मियां तुलसी में जन्म लेती है अतः रविवार को तुलसी का स्पर्श संसर्ग निषिद्ध है।

चंपा–गुलाब, केला, चमेली, केतकी, पुन्नाग, फलिनी, नीम, अनार (दाड़िम) अशोक जाति (चमेली), गुड़हल, केशर, जयंती, चंदन, अपराजिता नारियल, बेल, आम, भृंग, अंगूर आदि वृक्ष एवं लताएं जहां भी लगाए जाए शुभदायक होते हैं।

विशाल वृक्षों में कैथ वृक्ष गृह के उत्तर में, वटवृक्ष में, गूलर दक्षिण में तथा पीपल पश्चिम में लगाना शुभ होता है। वास्तु शास्त्र के अनुसार गृह के पूर्व में ऊंची इमारतें अथवा विशाल वृक्ष नहीं होना चाहिए ताकि सूर्य की किरणें उस पर सीधी पड़ सके। जो देवालय मठ, मकान सूर्य की किरणें एवं वायु से वंचित रहें वह शुभ फलदायी नहीं होता और प्रथम व चतुर्थ पहर की छाया को छोड़कर द्वितीय एवं तृतीय पहर की छायाविद् किसी कूप पर भी पड़े तो शुभ नहीं होती।

श्रीपर्णी (कायफल), रोहणी (कुटकी), शाक (सागोन) ऊर्जा के वृक्ष यदि सीधे हो तो उनकी लकड़ी, गृह में लगानी शुभदायक है, इसके अतिरिक्त शिंश या (शीशम) अशोक चंदन शाल (सखुआ) पतंग, लोध, अर्जुन, तालकदंब, की लकड़ी लगाना शुभ रहता है।

पितृवन (श्मशान), मार्ग, देवालय, वाल्मीकि युक्त तपस्वियों के आश्रम एवं बगीचों तथा वृक्षों तथा चैत्य (डीह) और नदी संगम पर पैदा हुए घड़े के जल से सींचे हुए वन की बल्लियों से लिपटे हुए और बिजली तथा वायु (आंधी) के आघात से गिरे हुए सुखे, जले एवं मधुमंक्खियों के छत्ते से संयुक्त वृक्ष कमजोर हो जाते हैं। इससे गृह को हानि की संभावना रहती है। जो पर्यावरण का दुषप्रभाव होता है। इन वृक्षों का उपयोग गृह में नहीं करना चाहिए।

पर्यावरण की दृष्टि से पेड़–पौधे तथा वनस्पती की दुनिया प्रकृति का उल्लास ही नहीं व्यक्त करती बल्कि मन को भी विराट तत्व के साथ जोड़ती है। पेड़ों से लदे पहाड़, हरी–भरी उपत्यकाएं, दूर तक फैलने चारागाह और फूलों से भरी तलहटियाँ मन को न जाने किन ऊचाईयों तक ले जाती है। मनुष्य और पेड़–पौधों का हर्ष उल्लास का यह सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से है। आदिम मानव वनों में निवास करता था और वन्य जीवन बिताता था।

वृक्षों में देवता का स्वरूप :–

ऋषि –मुनि भी तपस्या और मनन चिन्तन के लिए वनों में ही निवास करते थे। इस प्रकार आरम्भ से ही मनुष्य का जीवन और उसका ज्ञान–विज्ञान वनों में विकसित हुआ और इसके बदले में मनुष्य ने भी उनको अपूर्व आत्मीयता प्रदान की। जिसका आख्यान लोक–परम्परा, धर्म ग्रन्थों और शास्त्रों में अनेक स्थलों पर हुआ है। वैदिक काल में भारतीय मनीषी प्रकृति के अराधक थे। वे वनस्पतियों को अपने अनुष्ठानों में विशेष महत्त्व देते थे। उस काल में कई लोकदेवता थे, जिनमें मरूत, सूर्य, इन्द्र, वरूण, उषा, रूद्र आदि के साथ–साथ वनस्पति और वृक्ष को भी देवता कहा गया है। वनस्पति व वृक्षों में रूद्र के विस्तृत स्वरूप को देखते हुये वैदिक ऋषि कहता है– ''नमोवृक्षेभ्यों हरिकेशेभ्यों नमः''। अर्थात हरे पत्तेरूप केश वाले कल्पतरू स्वरूप उस रूद्र को नमस्कार है। सम्भवतः उस लोक में इन देवी–देवताओं के पूजन के लिए मेले लगते थे। प्राचीन भारतीयों के जीवन में इन्द्र महोत्सव हरियाली से भरी हुई शस्य श्यामला धरती के दर्शन से मानवीय उल्लास को व्यक्त करने का उत्सव था। उसके द्वारा विश्वव्यापी प्रजनन और पृथ्वी की कोख में से पनपने वाले वनस्पति–जीवन को देखकर मानव के स्वाभाविक हर्ष की अभिव्यक्ति की जाती थी''। वस्तुतः हमारे देश में वृक्षों के देवत्त्व और उनकी पूजा की परम्परा बहुत प्राचीन रही है। हड़प्पा और मोहन जोदड़ो में जो अवशेष मिले हैं उनमें भी लता आदि की आकृतियाँ धार्मिक भाव को व्यक्त करती हुई मिलती है। वेदों और आरण्यक ग्रन्थों में प्रकृति की महिमा अलौकिक अनुभव के साथ व्यक्त हुई है। गीता में कृष्ण अपने को सब वृक्षों में ''अश्वत्थ'' बताते हैं। और अपने को अर्पित की जाने वाली वस्तुओं में स्वर्ण, रत्न और बहुमूल्य वस्तुओं के नाम न गिनाकर केवल ''पत्रं पुष्पम् फल तोयम् यो में भक्त्या प्रयच्छति'' की बात करते है।[4] गीता ९/२६)

भारतीय कला और साहित्य में वृक्ष पूजा के अनेक सन्दर्भ मिलते हैं। ''महाभारत'' में कहा गया है। कि वृक्ष पूज्य होता है।

एको वृक्षो हियो ग्रामे भवेत् पर्णफलान्वितः।
चैत्यो भवति निर्ज्ञातिरर्चनीय सुपूजितः।।[5]

महाभारत आदिपर्व 138–25

वस्तुतः पत्तों, डालों, फूलों और फलों से लदा वृक्ष देवत्तव के लक्षणों से युक्त माना जाता था और उस क्षेत्र के

लिए चैत्य माना जाता था। अपनी शाखा तथा प्रशाखाओं में फैले वृक्ष की तुलना उपनिषदों में विश्वपुरूष से की गई है। वृक्ष के चारों ओर वैदिका बनाना एक सामान्य सी बात थी। रामायण और महाभारत में इस बात का उल्लेख मिलता है। आज भी सांची और भरहुत को वेदिकाएं दर्शनीय हैं।

बौद्ध और जैन परम्परा में भी वृक्ष–पूजा का महत्त्व बना रहा। गौतम बुद्ध ने बोधि वृक्ष के नीचे ही ज्ञान प्राप्त किया था। ''रूखधम्म – जातक'' में वृक्ष देवताओं का उल्लेख मिलता हैं। यह भी कहा गया है कि बोधिसत्व ने एक समय रूख देवता के रूप में जन्म लिया था। कुशाण काल की सुप्रसिद्ध प्राकृत रचना ''अंगविज्जा'' में देवी–देवताओं की सूची में पर्वत, नदी के साथ–साथ वनस्पति को भी देवता माना गया है। इसी परम्परा को बाद में जैन ग्रंथों में भी निभाया गया। किन्तु वृक्ष पूजा का मूल आधार वैदिक ग्रंथों में मिलता है। ऋषियों ने अश्वत्थ को विशेष महत्त्व दिया है। इसी प्रकार पीपल को साहित्य और लोक में पर्याप्त श्रद्धा मिली। अनेक पवित्र और अलौकिक वृक्षों में प्राचीन काल में 'कल्प–वृक्ष' की भी अवधारणा मुख्य थी। यद्यपि इस वृक्ष का उल्लेख वेदों में नहीं मिलता किन्तु लौकिक कल्पनाओं के आधार पर इसे इन्द्र के साथ जोड़ लिया गया और मनवांछित फल देने वाले वृक्ष के रूप में इसे नन्दन वृक्ष मान लिया गया। महाभारत, रामायण, जातक ग्रंथों और जैन साहित्य में इसकी भरपूर चर्चा हुई है। इसके बारे में जो कहा गया है उससे लगता है कि कल्प–वृक्ष की कल्पना लोक में कितनी मनोरम रही होगी जो बाद में भी वास्तुकला में उत्कीर्ण होने लगी। एक गढ़वाली लोक मानस में पद्य वृक्ष में देवत्त्व को आरोप किया है। धूप,दीप, चन्दन से अर्चन और दुग्ध सिंचन से उसके नावंकुरित पौधे को दुपतिया, चौपतिया और फिर एक दिन पूरे छायादार वृक्ष रूप में बढ़ने फैलने की भावना के साथ उसमें जीवन का सहज उल्लास और प्रकृति के प्रति वात्सल्य भाव भी व्यक्त हुआ है : अर्थात् पद्म का नया वृक्ष उगा है– देवताओं का वृक्ष नया वृक्ष उगा है कोई वेदी बनाओं उसे धूप दीप दान दो।

बसंत में जब–उपवन खिल उठते थे तो प्राचीन काल में कई उत्सव मनाए जाते थे। तब वन और उद्यान उत्सव क्रीड़ा गोष्ठी और समाज के आयोजनों से युक्त होते थे। इसी प्रकार प्राचीन आर्य ''सूर वसन्तक'' ''मदनोत्सव'' मनाते थे। इसके साथ ही उद्यान क्रीड़ा की परम्परा में भी राजाओं के गृह–द्वार लता– मण्डपों से सुसज्जित होते थे और उनके प्रमोद वन अपने सौन्दर्य और विलास के लिए प्रसिद्ध थे। राजाओं और धनिकों के अपने उद्यान गृह होते थे जहां वे उद्यान क्रीड़ा करते थे। उद्यान क्रीड़ा इतना महत्वपूर्ण मनोरंजन था कि दण्डी जैसे काव्यशास्त्री यह मानने को बाध्य हुए कि महाकाव्य तब तक अधूरा ही समझा जाना चाहिए जब तक उसमें उद्यान क्रीड़ा का वर्णन न हो। ''कामसूत्र'' में प्रमोद वन, वृक्ष वाटिका, नन्दनवन आदि का उल्लेख करते हुए मनोरंजन में उनकी भूमिका को स्पष्ट किया गया है। मध्यकाल में मुगलों ने बागों के प्रति विशेष रूचि दिखाई। विजौर, निशात, चश्माशाही, शालीमार जैसे बाग आज भी उनकी गाथा गाते हैं। किन्तु वृक्ष लगाना या उद्यानों का निर्माण करना केवल विलास की वस्तु न थी। अशोक के ''धम्म'' के कार्यो में सड़कों के दोनों ओर छायादार पेड़ लगाना भी एक था। वस्तुतः वृक्षों को धम्म से जोड़ने का उद्देश्य यही रहा है कि लोग इनके महत्त्व को समझें, उनसे उल्लास और जीवन प्राप्त करें। इसीलिए प्राचीन काल में ऐसे उत्सव रचाए जाते थे।

प्राचीन वास्तुकला और चित्रकला में वृक्ष–प्रेम के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इनमें स्थापत्य में अंकित ''शाल भंजिका'' मुद्रा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रायः अशोक, चम्पा, पलाश और शाल वृक्ष के नीचे विशेष मुद्रा में वृक्ष की टहनी पकड़े नारी आकृति का चित्रण मूर्तिकता का प्रिय विषय रहा है। अजन्ता की गुफाओं के चित्र फूलों की मालाओं, मणिबंधों और अनेक प्रकार की पुष्प–सज्जाओं से युक्त हैं। कहा जाता है कि सांची के तोरण स्तम्भों पर अंकित आकृतियों में वृक्ष–पूजा सम्बन्धी आकृतियों का आधिक्य है। उनमें यक्ष, किन्नर और गन्धर्व भी फूलों की माला हाथ में लिए वृक्षों की पूजा करते दिखाए गए है।

वृक्षों से देवताओं का सम्बंध :–

जनश्रुति, लोक–विश्वास और साहित्य में वृक्षों को अपार स्नेह और श्रद्धाभाव से देखा गया है। पूजा के लिए फलों, बेलपत्र, आम्रपत्र, दूर्वा, कुश, चन्दन आदि का प्रयोग सामान्य सी बात है। कुछ वृक्ष देवी–देवताओं के साथ जुड़े हैं। कृष्ण का नाम आते ही कदम्ब को कौन भुला सकता है ? अशोक को कामदेव का वृक्ष माना जाता है। कहते हैं, वह सुन्दरियों के पाद–प्रहार से खिलता है। कमल विष्णु और ब्रह्मा का पुष्प है। लक्ष्मी को कचनार के फूल प्रिय होते है। बेलपत्र शिव पर चढ़ाया जाता है और पीपल के पेड़ पर यक्ष का वास माना जाता है। तुलसी को भी लोकमानस में विष्णु पत्नी के रूप में जोड़ा गया है। अनेक पेड़–पौधों लताओं, फूलों और फलों को लेकर जन–मन में अनेक विश्वास आज भी पूर्णरूप से व्याप्त हैं।

यज्ञीय वृक्षपलाशः खदिरोऽश्वत्थः शमी वट उदुम्बरः।
अपामार्गार्कदुर्वाश्च कुशाश्चेत्यपरे विदुः।।
शमी पलाशन्यग्रोध पलक्षवेलः तोद्यवाः[16]
अश्वत्थोदुम्बरौ बिल्वचन्दनस्सरलस्तथा।

सालश्च देवदारूश्च खदिरश्चैव यज्ञियाः।।[7]

(ब्रह्मपुराण पर्यावरण वास्तुशास्त्र पृ.क्र. ३१)

यज्ञ कार्य हेतु पलाश, खादिर, अश्वत्थ, शमी, बड़, उदुम्बर, अपामार्ग, अर्क, दूर्वा, कुश, न्यग्रोध, पलक्ष, बिल्व, चन्दन, साल, देवदारू, गुग्गल, सरल, खेजड़ी इत्यादि यज्ञीय वृक्ष कहे गये हैं। इनकी समिधा हवन कार्य में प्रयोग आती है।

वृक्षों मं मानवीकरण की उदात्त भावना :–

साहित्य में वृक्षों को आलम्बन, उद्दीपन और उपमान के रूप में महत्वपूर्ण स्थान ही नहीं, अपार ममता भी मिली है। कवियों ने पेड़–पौधों और लतादुमों में अपने ही मन की छाया देखी है और उन्हें भी अपनी तरह मानवीय सम्बंधों में जोड़कर देखा और आपसी रिश्तों में बांधा हैं। कालिदास में यह संवेदना चरम सीमा पर दिखाई देती है। शकुन्तला नवमालिका को सहकार अर्थात् आम को ''स्वयंवर नववधू'' कहकर पुकारती हैं। वस्तुतः कालिदास को लता और वृक्षों का स्वयं –विवाह बहुत प्रिय था। ''अभिज्ञान शाकुन्तलम्'' में अनासूर्या कहती है– ''अरी शकुन्तला, पिता काश्यप को आश्रम के वृक्ष तुमसे भी अधिक प्रिय हैं। ''तो शकुन्तला उत्तर देती है– ''मेरा भी तो इन वृक्षों पर सगे भाई जैसा स्नेह है।''

शकुन्तला को विदा देते हुए महर्षि कण्व कहते हैं – तुम्हें जल पिलाये बिना जो जल नहीं पीती थी, तुम्हारे प्रति प्रेम के कारण जो मंडनप्रिय होने पर भी तुम्हारे नए पत्ते नहीं तोड़ती थी, तुम्हारे नए पुष्पोद्गम पर जिसका उत्सव होता था, वह शकुन्तला पतिगृह जा रही है सब अनुमति दो।।

शकुन्तला पतिगृह जाते हुए अपनी ''लताभगिनी'' वन ज्योत्सना से विदा लेती है। कश्यप कहते हैं : अवैमि ते तस्यां सौंदर्यास्नेहम्– मैं जानता हूं कि तेरा उस पर बहिन का सा स्नेह है। शकुन्तला उसे गले मिलने को कहती है। काश्यप अब निश्चिन्त हैं – यह नवमालिका भी आप से मिल गई है और मैं अब तेरी और इसकी ओर से निश्चिन्त हो गया हूँ।

रघुवंश में राजा दिलीप एक देवदारू के वृक्ष को देखकर कहते हैं –

अमुं पुरः पश्यसि देवदारूं पुत्री कृतो सौ वृषभध्वजेन। हेमकुम्भस्तन निः सृतांना स्कन्दस्य मातु पयस्नां रसज्ञः।।[8]

(रघुवंश २/३६)

यह जो सामने देवगुरू का वृक्ष है यह शिवजी के द्वारा पुत्र रूप में स्वीकार कर लिया गया है। पार्वती ने इसे पुत्र के समान पाला है। जिस भांति कार्तिकेय ने अपनी माता के स्वर्ण निर्मित घड़े से निकले हुए जल का पान किया है। अर्थात् पार्वती ने स्वयं इस देवदारू वृक्ष का सिंचन इस प्रकार किया है इस प्रकार भारतीय संस्कृति में वृक्षों को बहुत उच्च सम्मान प्राप्त है।

इसी प्रकार बाण ने गृहोद्यानों का चित्रण करते हुए प्रकृति के प्रति अपूर्व प्रेम प्रकट किया है। उन्होंने लिखा है कि रानी यशोवती जातिपुष्पों के गृच्छों का आलिंगन करती थी, द्वार पर लगे सहकार से मिलती थी और अशोक तथा बलुक से आत्मीय जैसा प्यार करती थी। भवभूति की करूणा केवल मानव तक सीमित नहीं थी। पेड़–पौधों के प्रति भी उनमें अपार सहानुभूति दिखाई देती है। भास, शूद्रक और हर्ष के नाटकों में भी पेड़–पौधों के माध्यम से मानव के उल्लास एवं आत्मभाव का सुन्दर चित्रण हुआ है। लोक जीवन और लोकगीतों में तो पेड़–पौधों को अपने ही सुख–दुखों की अभिव्यक्ति का समभागी माना गया है। आदिवासियों और वनचरों में वृक्षपूजा और वनोत्सवों की परम्परा आज भी बनी हुई है। उनमें पेड़–पौधो को लेकर कई विश्वास आज भी प्रचलित हैं। कई जातियों में वृक्ष और कुंए का विवाह रचाने की परम्परा थी। हिन्दु धर्म मे सन्तान प्राप्ति हेतु ''तुलसी विवाह'' की प्रथा आज भी प्रचलित है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि बसन्त के उल्लास, वर्षा ऋतु की हरियाली और पतझड़ को भारतीय लोक मानस ने समग्र आत्मीयता से देखा है। भारत के विभिन्न भागों में ऐसे लोकगीत मिलते हैं जिनमें स्त्रियाँ आपने मन की पीड़ा को वृक्षों को कहकर सुनाती हैं। एक कश्मीरी लोकगीत में चिनार वृक्ष से एक युवती कहती है : ''हे चिनार, तू कितना फला–फूला है, सब जगह बसन्त आ गया है लेकिन मेरी सन्तान क्यों नहीं ?'' अवधी गीत में इस बात का अहसास व्यक्त हुआ है और उसकी डालों पर हिंडोले लगते हैं। गीत में लड़की पिता से विनय करती है, ''बाबा, नीम के पेड़ को मत काटो,। नीम का पेड़ पंछियों को सहारा देता है। बाबा, अपनी बेटियों को दुख मत दो। बेटियाँ पंछी की तरह होती हैं। सारे पंछी एक दिन उड़ जाएंगे और नीम अकेलापन महसूस करेगा।''

पेड़–पौधों का पर्यावरण का योगदान

वस्तुतः पेड़–पौधों, उनके पत्तों, फूलों और जड़ी–बूटियों का पर्यावरण शुद्धि एवं मनुष्य जीवन को सुखद बनाने में बहुत बड़ा योगदान है। आज के प्रदूषित वातावरण में उनका महत्त्व और भी बढ़ गया है। वे ऊर्जा के सबसे महत्वपूर्ण संसाधन के रूप में सर्वाधिक मान्य हैं। वे ऊर्जा के

सबसे महत्वपूर्ण साधन है। वे सूर्य–ऊर्जा ग्रहण कर हमारे लिए ईधन ऊर्जा के महत्वपूर्ण माध्यम बनते है, यह माना जाता है कि हमारे देश में वर्ष भर में लगभग दो अरब घनमीटर तेल और बिजली की तुलना में चौगुनी है। इससे स्पष्ट है की वे जलाने की लकड़ी के रूप में कितनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किन्तु यह उनके उपयोग को अनुकूल बनाए रखने के लिए पेड़–पौधों का बहुत बड़ा योगदान है। पेड़ पौधे जमीन से शक्ति ग्रहण करते हैं किन्तु वे जमीन को शक्ति भी प्रदान करते है। इनकी जड़ें जमीन को कसकर पकड़े रहती हैं जिससे धरती का सन्तुलन बना रहता है। पहाड़ी भागो में जहां बहुत बारिश होती है और बाढ़ का पानी भूरक्षरण और स्खलन का संकट पैदा करता है वहां पेड़–पौधे ही भूमि की रक्षा करने में सहायक होते है। उन भागों में भी जहां कड़ाके की धूप पड़ती है या जहां तेज सर्दी पड़ती है वहाँ जमीन की शक्ति समाप्त होने लगती है और केवल चट्टाने दिखाई देती हैं। वनों के खत्म हो जाने या सूखे के कारण मिट्टी में जो रासायनिक प्रक्रिया हेाती है उससे रेगिस्तान आगे बढ़ते जाते हैं। दूसरी ओर पेड़ों के अभाव में वाष्पीकरण न होने की प्रक्रिया मिट्टी को धूल एवं रेत में बदल देती है जिससे अच्छी खासी भूमि रेगिस्तान में बदल जाती है। इस प्रक्रिया में नए रेगिस्तान बनते जाते हैं। पहाड़ों की उपजाऊ मिट्टी वर्षा में बह जाती है। कहा जाता है कि एक इंच अच्छी मिट्टी बनाने में प्रकृति को हजारों साल लगते हैं। किन्तु दुर्भाग्य से हमारे देश में आठ करोड़ टन मृदा हर साल बहकर इसलिए नष्ट हो जाती है क्योंकि उसको रोकने के लिए जंगल नहीं है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पेड़ अपनी जड़ों से मिट्टी को पकड़े ही नहीं रखते जल सन्तुलन भी बनाए रखते हैं और संरक्षण में भी सहायक होते है। वास्तव में देश में जो कभी सूखा और कभी बाढ़ आती है, इसका कारण भी यही है कि हमने पेड़–पौधों को निर्मगता से काट डाला है।[२३]

वस्तुतः पेड़–पौधे सृजन की महत्वपूर्ण कड़ी हैं। धरती, जीवधारियों, वातावरण और जीवन के लिए अनिवार्य पारस्परिक निर्भरता की प्रक्रिया से जुड़े हैं। जल जीव, जन्तुओं, मिट्टी, वातावरण, ईधन, उद्योग, भोजन, चारा, उर्वरक तत्व, औषधीय गुणों आदि सबसे वे एक पारस्परिक सम्बंध में बद्ध हैं। यदि पेड़–पौधे न हों तो पशु–पक्षियों और मानव के जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अदिम काल में जब मनुष्य जंगली अवस्था में रहा होगा तो उन्होंने ही आदमी को पनाह दी होगी और आज सभ्यता जहां औद्योगीकरण के युग में पहुंची है, उसके लिए भी मार्ग इन्होंने ही बनाया है। आज काफी, कोको, फर्नीचर, रबड़, लाख, पेण्ट, क्वायर, कोयला आदि, सभ्यता के आधार बन गए हैं।

मानव के अलावा जीव–जन्तुओं में भी प्रेम का इजहार तो जग जाहिर है, लेकिन पौधे भी प्रेम करते हैं, यह बात शोधों से सामने आई है और पता चला है कि पौधे अपने पालनहार और रक्षकों से गहरी आत्मीयता रखते हैं। उस के दुख से दुखी होते हैं और खुशी से प्रसन्न होते हैं। जरा जीवाणुओं में प्रेमलीला को देखते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म जीवाणु (इन्हें आंख से देखना संभव नहीं होता) की एग्रोबैक्टीरिया प्रजाति में युगल प्रेमी जीवाणु एक दूसरे के आमने–सामने अति निकट आ जाते हैं। परंतु वे एक दूसरे को स्पर्श भी नहीं करते। बस इस मुग्धावस्था में कुछ समय तक रहने के बाद एक दूसरे से दूर हट जाते हैं। उनके इस मौन, शर्मीले, दाम्पत्य जीवन को सफल बनाने का दायित्व उन विषाणुओं पर होता है, जो उनके शरीर में परजीवी होते है। तालाब व नहरों के अक्सर मिलने वाले एक पौधे का नाम है बैलिसनेरिया। इसके नर और मादा फूल अलग–अलग पौधों में उत्पन्न होते हैं। मादा फूल का डंठल लंबा पतला तथा संजनी सादश सर्पिल रूप में मुड़ा होता है। जब मादा फूल पूर्ण यौवन अवस्था में होता है 'तब इसके डंठल की सर्पिलाकार कुंडली धीरे–धीरे खुलती है, जिसके कारण इसका सम्पूर्ण फूल पानी की सतह से ऊपर उठकर तैरने लगता है। लगभग उसी समय नर पौधें के फूल से परिपक्व परागण पौधे से युक्त जल की सतह पर बहने लगते है। मादा फूल के वर्तिकाकाग्र पर पराग कण के स्थापित होते ही मादा फूल पुनः अपनी पुरानी अवस्था में आ जाता है क्योंकि तब तक परागण क्रिया सम्पन्न हो जाती है।

पौधों के प्रेम व्यवहार, उनकी मानवीय भावनाओं को उजागर करने वाला वर्णन केवल उनके रोचक संसार की एक झलक मात्र है। सच तो यह है कि संपूर्ण वनस्पति जगत मानवीय भावनाओं से भरा पड़ा है। बस आवश्यकता है इनको समझने की। शोधों को देखकर यह कहा जा सकता है कि एक दिन ऐसा अवश्य आएगा जब पॉलीग्राफ के जरिए पौधे हमसे बातचीत करेंगे और हमारे सुख–दुख में भी शाामिल होंगे।

पेड़–पौधे, वृक्ष, वनस्पति एवं पुष्प जहां प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य के अनुपम अंग है वहां मानव मात्र के प्रति शुभ–अशुभ अनुकूल एवं प्रतिकूल भाग्य–रश्मियों के भी सूचक है प्रत्येक पेड़ पौधे वनस्पति तथा वृक्ष में प्रकृति की एक अनुपम शक्ति एक विशिष्ट रहस्य छुपा हुआ है। जिसको समझने एवं जानने से व्यक्ति व्यष्टि एवं समष्टि के रहस्यमय परतों को खोलने में सक्षम हो सकता है हमारे प्राचीन ऋषियों ने वनस्पति शास्त्र के औषधिय तत्त्वों को लेकर जहां बड़े–बड़े ग्रंथ लिखे वहां वास्तु विद्या के सन्दर्भ में इन वृक्षों के शुभ–अशुभ परिणामों को लेकर विशद् अध्ययन किया। जिस प्रकार एक कुशल वैद्य को

वनस्पतियों–लताओं व समस्त प्रकार के औषद्य–वृक्षों गुण धर्म का ज्ञान रहता है एक दक्ष ज्योतिषि को नक्षत्र वृक्षों व धार्मिक महत्त्व वाले वृक्षों का समग्र ज्ञान रहता है एक कुशल कर्मकाण्डी पुरोहित को यज्ञीय वृक्षों व समस्त प्रकार की समिधाओं, देव पूजन में ग्राह्य – अग्राह्य पुष्पों का ज्ञान रहता है ठीक उसी प्रकार एक दक्ष वास्तुविज्ञ को गृह के अन्दन एवं बाहर लगने वाली सभी प्रकार की लकड़ियाँ तथा सभी प्रकार के पौधे–वनस्पतियों एवं पुष्प–वृक्षों की शुभाशुभ गुणवत्ता का विस्तार से ज्ञान होना चाहिए अन्यथा उसका वास्तु सम्बंधी ज्ञान अधूरा ही माना जाएगा। इस प्रकार गृह पर्यावरण को ध्यान में रखते हुए गृहनिर्माण का विचार करना चाहिए। जिससे गृह एवं गृह स्वामी पर किसी प्रकार का अशुभ प्रभाव न पड़े।

संदर्भ ग्रंथ सूचि :

1 पर्यावरणवास्तुशास्त्र १/अ/१३
2 समरांगण वास्तु एवं पर्यावरण पृक्र 141
3 3 मत्स्यपुराण २१८/३/८६१
4 गीता ६/२६
5 महाभारतआदिपर्व 138–25
6 ब्रह्मपुराण पर्यावरण वास्तुशास्त्र पृ.क्र. ३0
7 ब्रह्मपुराण पर्यावरण वास्तुशास्त्र पृ.क्र. ३१
8 (रघुवंश महाकाव्य २/३६)

''डॉ. नगेन्द्र की साहित्यिक चेतना''

श्रीमती नम्रता अग्रवाल,शोधार्थी– पी.एचडी, हिन्दी विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)

प्रत्येक युग में साहित्य चेतना में निरंतर परिवर्तन या विकास होता रहा है। वर्तमान युग का साहित्य चिंतन वैसा नहीं है जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समय में आज से चालीस वर्ष पूर्व हुआ करता था। यद्यपि साहित्य के मौलिक प्रतिमान अधिक नहीं बदलते हुए युग के कारण वातावरण और प्रविधि प्रक्रिया में परिवर्तन निश्चय ही होता है। पिछले दस–पंद्रह वर्षो में निरंतर अनुसंधान के फलस्वरूप प्रचुर नवीन सामग्री प्रकाश में आई है। तथा उनके स्वीकृत तथ्यों का संशोधन हुआ है। जिनसे पूर्ववर्ती निष्कर्ष व निर्णय अनिवार्यतः बदल गए हैं। इनके अतिरिक्त एक कारण और भी है, जैसा कि इलियट ने कहा है कि केवल अतीत ही वर्तमान को प्रभावित नहीं करता बल्कि वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है''। यही कारण है कि प्रत्येक युग में साहित्य के नये विकास रूपों तथा पूर्व प्रचलित रूपों के मध्य मूल्यांकन होता रहा है। उदाहरण स्वरूप ''हिंदी महाकाव्य परम्परा में 'रामचरितमानस' और 'रामचन्द्रिका' आदि का स्थान निर्धारण करने के लिए 'प्रिय प्रवास', 'साकेत' और 'कामायनी' की रचना के बाद आज फिर से विचार करना पडेगा। किसी श्रृंखला में जब नयी कड़ियां जुड़ती है तो स्वभावतः पुरानी कड़ियों की स्थिति पूर्ववत् नहीं रह जाती। अतः आचार्य नगेन्द्र जी का मानना है कि नवीन शोध परिणामों के आधार पर, विकासशील साहित्य चेतना के आलोक में, संपूर्ण परिदृश्य का पुनरावलोकन सर्वथा आवश्यक है।

डॉ. नगेन्द्र जी का कहना है कि हिंदी साहित्य के इतिहास में दो मौलिक प्रश्नों का समाधान करना भी अत्यंत आवश्यक है – 1. हिंदी का स्वरूप विस्तार कहां तक है ? 2. साहित्य की सीमा क्या है ?। डॉ. नगेन्द्र जी का मानना है कि वर्तमान बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश व दिल्ली का इसका हिन्दी क्षेत्र में आते हैं। तथा मैथिली, मगही, भोजपुरी, पूर्वी अवधि, पश्चिमी अवधि, बघेलखण्डी, ब्रज, कन्नौजी, बुंदेलखण्डी, राजस्थानी के विभिन्न रूप, कुमाउंनी आदि पहाडी बालियां हिंदी की शाखा–प्रशाखाऐं है। हिंदी का 'विशाल रूप यह राजनैतिक उद्देश्यों से विस्तारित रूप नहीं है। पिछले कुछ पांच–छः वर्षो से यह विवाद जोर पकड़ता जा रहा है। एक मत यह है कि हिंदी का अर्थ वर्तमान हिंदी या खडी बोली हिंदी ही है। मैथिली व राजस्थानी तो स्वतंत्र भाषाएं है ही भाषा विज्ञान के आधार पर उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति हिन्दी से अत्यंत भिन्न है। अवधि, ब्रज भाषा का भी अपना पृथक अक्षित्व है। से एक दूसरे से भिन्न है। और वर्तमान हिंदी से भी। हिंदी विरोधी शिविर से उठाया गया विषय है। मैथिली को तो साहित्य अकादमी जैसी संस्था ने मान्यता दे दी है। और उसके साहित्य का स्वतंत्र प्रकाशन तथा अध्ययन–अध्यापन कार्य क्रम चलने लगा है। उधर राजस्थानी का आंदोलन भी जारी है। ब्रज व अवधी जिनका साहित्य कहीं अधिक समृद्ध है और भी औचित्य पूर्वक दावा कर सकती है। वहीं नगेन्द्र जी का कहना है कि उर्दू भी हिंदी की ही उपभाषा है और ब्रज भाषा आदि की तरह उर्दू साहित्य भी हिंदी साहित्य का एक अंग है।

आचार्य जी के अनुसार ''रस के साहित्य को प्रधान विषय बनाकर उनके पोषक रूप में ज्ञान के साहित्य का आकलन करना चाहिए।

हमारे साहित्य की काफी सामग्री ऐसी है। जिसकी अप्रमाणिकता सिद्ध हो चुकी है उसके प्रति मोह अनुचित है और इतिहासकार के सामने वस्तुस्थिति को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है। किंतु प्रमाणिकता की बात पर सतर्कता अत्यंत आवश्यक है। हर नवीन शोध परिणाम प्रमाणिक नहीं होता। नवीन के प्रति आग्रह भी इतिहास का गुण नहीं है। जिस प्रकार अप्रमाणिक मान्यताओं के साथ रहना अनुचित है, ठीक उसी प्रकार हर नयी कच्ची–पक्की स्थापना के आधार पर समय सिद्ध धारणाओं को नजर अंदाज करना भी गलत है। आचार्य नगेन्द्र जी के अनुसार 1. नवीन शोध परिणामों और विकसित साहित्य चेतना को ध्यान में रखते हुए हिंदी साहित्य के इतिहास का पुर्नलेखन आवश्यक है। 2. युग चेतना और साहित्य चेतना के समन्वय पर आधृत साहित्य के इतिहास के संशलिष्ट स्वरूप को ही हमें स्वीकार करना चाहिए व इसी आधार का सांमजस्य रूपरेखा का निर्माण करना चाहिए। 3. प्रमाणिक लेखकों का मत संक्षेप में उल्लेखित करते हुए बहुमान्य और समय सिद्ध निष्कर्षो को ही इतिहास में ग्रहण करना अधिक

विवेक सम्मत है। 4. विषय के प्रतिपादन में समन्वयात्मक पद्धति का अवलम्बन करना ही उचित है। 5. विषय विवेचन का कलेवर विषय के महत्व के अनुरूप ही होना चाहिए। 6. विक्रम संवत व सन् संवत् से आज के पाठक का जीवन्त संपर्क न होने के कारण ईस्वी सन् का प्रयोग ही उचित है।

आलोच्य अवधि में सैद्धांतिक आलोचना की दिशा में भी अनेक समीक्षा ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है। इस दिशा में सर्वाधिक उल्लेखनीय योगदान डॉ. नगेन्द्र का है। 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' में उन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र की अभिनिवेश पूर्वक विवेचना की है। इन्होंने भारतीय तथा पश्चात्य साहित्य शास्त्रीय परम्पराओं को परस्पर पूरक माना है और दोनों के मौलिक तत्वों को सूक्ष्मतापूर्वक विश्लेषित किया है। इस सिद्धांत में तो आचार्य जी ने बृहत प्रयास किया है। जिसमें नई जानकारीयों का समावेश किया है तथा रस को व्यापक बनाते हुए नई कविता को भी उसकी सीमा में समाहित कर लिया है। डॉ. नगेन्द्र जी के अनुसार आलोचक के सम्मुख केवल रचना की भाषिक संघटना होती है, इसलिए उसे भाषिक संरचना का विवेचन करते हुए उसकी छोटी बड़ी गूढ़ जटिल अर्थवत्ता को उद्घाटित करते समय मूल्यगत प्रांसगिकता को स्पष्ट करना होता है। किंतु नई आलोचना तभी अर्थवती हो सकती है जब पिछली चिंतन परम्परा उसका तालेमल बैठाया जाए। जो समीक्षक इस ओर गतिशील है उन्हें अपनी लंबी विरासत के आधार पर ही इस पद्धति को विकसित करने की चेष्टा करनी चाहिए। यही कारण है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं में हिंदी का आलोचना साहित्य व आलोचनाशस्त्र निश्चय ही सर्वाधिक प्रौढ और समृद्ध है। आजकल हिंदी में प्रतिवर्ष जितना साहित्य का प्रकाशन होता है उतना भारत की सभी भाषाएं मिलकर नहीं कर पाती। हिंदी को न केवल भारतीय वरन् विश्व के विभिन्न देश और उनकी परिप्रेक्ष्य में अपनी शक्ति और सीमा का आकलन करने का अवसर प्राप्त हुआ है।

विशेष संदर्भ – 'हिंदी साहित्य का इतिहास' डॉ. नगेन्द्र।

पृष्ठ क्रमांक – 1, 4
पृष्ठ क्रमांक – 776, 789
पृष्ठ क्रमांक – 785

Women Development and Employment In Organised Sector in the Planning Era Of Contemporary Indian Society- An Analytical Study

Deepali Rani Sahoo, Assistant Prof, School of Law, RNB Global University

Abstract : The socio-economic, political and cultural structure of India has undergone a major transformation during 21st century. Under its impact new values have emerged in moulding the lives and patterns of women. In the past few years systematic efforts have been to develop rosters of qualified women in all kinds of fields from education to medicine in the development and world order. The number of able and experienced women who are being uncovered in every field is surprising everyone. Women's greatest resources lie in their own socially hidden skills, now being made visible; they have been working all along in the lower echelons of every type of institution.

Women development has been one of the central objectives of development planning in India since independence. During the first four 'Five year plans', the concept of women's development was mainly 'welfare' oriented. However, it was only in 1980s that women were recognized as a separate target group and gives their rightful place in development planning. The general objective of development programmes for the women is to improve their Socio-economic status, especially in rural areas, so that their contribution to the well-being of their families and the nation alike is enhanced.

Keywords: Women Development, Socio-economic status, development planning and programmes

Introduction:The post independence period has brought about significant changes in the status and position of Indian women in India. The Indian Constitution has laid down as a fundamental right "the equality of sexes". With the spread of education and enactments of laws against exploitation of women the social scenario is fast changing. In contemporary Indian society, the number of working women is increasing and woman are becoming economically independent and more self-confident. While a majority of them are successfully handling their dual roles with help from family members, more and more married women are taking up careers and working both at home and work place, because they realise their goal is not just housekeeping but contribution to national growth. With better education and better awareness, Indian women today are trying to get all the benefits that should accrue to them lawfully. Growing urbanization and modernisation of the economy brought the educated middle class women into the world of look.

Objective of this study:

- To develop and encourage women to pursue business, the professions and industry
- To work toward the improvement of economic, employment and social conditions for women
- To work for high standards of service in business, the professions, industry and public life
- To stimulate interest in federal, provincial and municipal affairs, and to encourage women to participate in the business of government at all levels
- To encourage and assist women and girls to acquire further education and training
- To issue a magazine or other publication
- To affiliate with other organizations to promote mutual interests of women
- To co-operate with the International Federation of Business and Professional Women (IFBPW), and to implement its aims and objectives.
- To provide opportunities for interaction between members and Clubs; to promote the policies and initiatives of the national and International Federations, the Provincial Organizations/Associations, and local Clubs; and to promote the development of new Clubs in Canada.
- While upholding the traditions of respect, support and mutual co-operation and recognizing the varied backgrounds and lifestyles of its members, to create a positive image of a strong, progressive and mutually supportive women's group by developing forward thinking policies and efficient operating procedures to provide a forum for positive action.

- To lobby for change in law and practice which will achieve economic equity and economic security for women, and to work for change in attitudes which will bring about equality of opportunity for women in education, employment and participation in public and political roles.
- To recognize and promote the varied abilities and accomplishments of its membership and to encourage the development of the career and leadership aspirations of women.

Review of Literature:This paper reviews some of the studies with working women. Many studies have concentrated on the status of women in an unorganized and organized sector. The present review limitsitself to status of women in organized sector, which are relevant tothe study.A review of literature was added to this study byreferring to different journal and studies conducted by differentindividuals to show relevance to the study.Hate (1978) in her book stated that there is positivechange in the political, economic and social status of middle classworking and non-working women living in four cities inMaharashtra with the advent of independence.Armstrong (1979) revealed that higher level employeescare more for self actualizing valves like advancement, recognitionand independence whereas lower level employees care more forsalary, fringe benefits and happiness.Henley (1979) stated that the feminine stereotypedepicts women as being more concerned than men about theirbodies, their clothing, and their appearance in general; as is oftenthe case, there is both truth and reason to the stereotype. Womenare subject to a great deal more observation than men; their figuresand clothing; their attractiveness is the criteria by which they mostoften are judged. Not surprisingly, then women are more consciousthan men of their visibility. This difference translates into both apower and a sex difference. In a situation where one person isobserving and the other is being observed, the observer dominatesthe situation. When a man on the bases of her dress andappearance judges a woman, the man is able to dominance over thesituation.Johnson (1979) in his study started that women, iftheory act in an acceptable feminine manner, would rely on indirect personal and helpless forms of power. The interplay of these sexroles expectations and opportunities form and male styles.Kapur (1979) his shown that the twin roles of womencause tension and conflict due to her social structure which is stillmore dominant .In her study on working women in Delhi, she hasshown that traditional authoritarian set up of Hindu socialstructure continues to be the same basically and hence. Womenface problem of role conflict change in attitudes of men and womenaccording to the situation can help to overcome their problem.Locke (1979) in his study stated that a cause-effectrelationship is available between family functioning and work life,this cause-effect relationship could work in both directions, that is,work attitudes could affect family attitudes and vice versa. Themechanism that is positive in bringing about such effect isemotional generalization of spill over.

Factors Contributing to Women's Employment:Women enter into employment due to various causes which are as complex as those influencing other choices that affect their way of life. It is generally believed that socio-cultural changes play a very important role in creating a situation in which women would like to seek employment. While one would not deny the importance of socio-cultural changes, there are several other factors which lead one to take individual decision to work or not to work. It might be that in a particular cultural context, one was in a position to get employment but her desires might not be translated into action, if she was not in a position to go out of home. It is, therefore, appropriate to know those factors which pull and push women to enter the working force.

Here we deal with the factors that explain as to why women go to work. The Ministry of Labour, Government of India has pointed out that whatsoever the stage of economic or social development of a country, four factors prevail which lead women to join working forces. They are the inadequate income of the principal earner which forces a woman to work and supplement the income, any mishaps such as incapacity of the bread winner, death of the bread winner and a women's desire for economic independence or for securing higher standard of living. There is also desire on the part of the women to give expression to their own talents and skills. There are also some financial reasons such as economic pressures which pertain to the fulfilment of basic minimum needs of life, higher standard of living and have better education of children and supply of objects of comfort. Some women felt boredom with the continuous routine of household tasks

and felt lonely and isolated in the home. They wanted work because of the tradition of the family in a specific occupation. It also helps them to earn their living.

Women Development for India's Development:Women in Indian society are regarded as second grade citizens whose every aspect of life is confined to the rigid restriction under the goals of casteism, customs and tradition as envisaged in our religion as well as social customs . But in modern times there have been a social reformers and educationalists that unless women are emancipated from social shackles and bondages and proper steps are taken for their education and participation in activities in the social, cultural, political and economic spheres. Women have to swim against the current that requires more strength comes from the processof empowerment. Empowering of women pre-supports a drastic, dynamic and democratic change in the perception of and expectation from women in our society. Empowerment is a process and is not, therefore, something that can be given to people. The process of empowerment is both individual and collective, since it is through involvement in groups that people most often begin to develop their awareness and the ability to organize, to take action and bring about change.

Women in the Organized Sector:Women workers are found both in the organized and unorganized sectors. Majority of the women are employed in the unorganized sector. Yet most of the economic power is in the organized sector which is composed of public and corporate sector firms. Prior to independence, employment in the government of public sector consisted mainly in the services and the number of women in these was negligible. The Constitution of independent India however, guaranteed equality of opportunity and non-discrimination on grounds of sex. This changed the situation radically and enables women to seek employment in the public sector. A glance at the organized sector, both in the public sector as well as the private sector, indicates that the employment of women in number and in percentage terms has slightly increased. The changes are most visible in the modern and organized sector where woman now appear in every field, from aviation to medicine to information technology to armed combat. In many fields, which earlier were male preserves, such as medicine, women were outnumbered by men, and also in universities both numbers and performance of women students outshone that of men. As observed earlier, due to spread of education and expansion in the tertiary sector, there has been an increase of women in white-collared jobs as well as professions like teaching, nursing, law etc.

Different Acts For Women's Safety at Workplace:The year after 1947 saw the passing of a number of laws which recognized women's work and attempted to protect the women, both as workers as well as women. There are number of laws to protect women's health and safety in the organized sector. The main area of concern is women's employment at night. The Factories Act, Plantation Labour Act, Mines Act and the Beedi and Cigar Worker's Act all place restrictions on employment of women during the night. While it is believed that night employment is detrimental to the health of all workers, only women's night work is restricted. Another area of concern is the carrying of heavy weights by women. There are various laws restricting women from such activity. The Factories Act 1948 has a statutory provision for crèches in factories employing than 25th women.

The First Five Year Plan (1951-1956)

The 1st five year plan was mainly welfare oriented. Establishment of the Central Social Welfare Board, organization of Mahila Mandals or Woman Clubs and the Community Development Programmes were a few steps in this direction.

The Second Five Year Plan (1956-61)

The 2nd five year plan the women were organised into Mahila Mandals to act as focal points at the grass root levels for the development of women.

The Third, Fourth and Other Interim Plans (1961-74)

These plans accorded high priority for women's education, to improve their maternal and child health services. The empowerment of women was closely linked with the overall approach of intensive agricultural development programmes. Similarly, the Fourth-Five year plan and interim plans continued the emphasis on women's education.

The Fifth Five Year Plan (1974-79)

The 5th five year plan coincided with the international women's decade. The national commission on women submitted its report on the status of women in India. Based on the report, the CSWB drew up the national plan of Action (1976) which has provided guide lines for women development. The National Plan of action identified areas like health, family planning,nutrition, education, employment, legislation and social welfare for formulating and implementing action programmes for women. Women's welfare and Development Bureau was set up in 1976, within CSWB to act as a nodal agency for coordinating programmes for women.

The Sixth Five Year Plan (1980-85)

The 6th year plan was a landmark in the history of women's development as it received recognition as one of the developmental sectors and was included in the 6th 5year plan. The 6th plan saw a defines shift from welfare to development. It recognized women's lack of access to resources as a critical factor impending their growth.

The Seventh Five Year Plan (1985-90)

In the 7th five year plan the developmental programmes for women continued with the major objectives of raising their economic and social status and to bring them into the mainstream of national development. A significant step in this direction was to identity and promotes the beneficiary –Oriented Programmes for women in different development sectors which extend direct benefits to women.

The Eighth Five Year Plan (1992-97)

The plan which was launched in 1992, promises to ensure that the benefits ofdevelopment from different sectors do not by pass women and that special programmes will be implemented to complement the general development programmes. Therefore, the flow of benefits to women in the three core sectors of education, health and employment will be monitored with a greater vigil.

The Ninth Five Year Plan (1997-2002)

The 9th plan made two significant changes in the strategy of planning for women. Under this plan, not less than 20percent of funds/benefits were earmarked for women –specific programmes.

The Tenth Five Year Plan (2002-07)

It has made a major commitment towards empowering women through translating the recently adopted National Policy for Empowerment of women into action and ensuring survival, protection and development of women and children rights based.

Women in the Eleventh Five Year Plan (2007-12)

The National Family Health Survey in its third round estimates the number of women in the age group 15-49 years with no formal education at 41 percent, as against 18 per cent of men.

Emergence of the SHG Movement:

NGO's played a pivotal role in innovating the SGH model and implementing the model to develop the process fully. SGHs were viewed by state governments and NGOs to be more concerns as well. The agenda of SGHs included social and political issues as well.SGH Federations are registered as societies, mutualbenefits, trusts and mutually aided cooperatives societies. SGH Federations resulted in several key benefits including: Stronger political and advocacy capabilities, sharing of knowledge and experiences, economics of scale, access to greater capital.

Conclusion:No wonder women face multifarious problems. They are personal emotional or psycho-physical ones and problem at home as well as at thework place. In case of organised sector, sexual discrimination though not wide spread , some forms of harassment like threat of transfer to distances places, ill treatment etc, are found. Middle class women who work in offices and companies also face gender discrimination in many ways. Generally they also get paid less than men in private firms. In public sector of course remuneration is same but generally women are not given very important assignments as they are considered causal about their work.

Development is a long process. It has to pass through different stages. In the first stage, women should be trained to look into the situation from different perspectives and recognize the power relations that perpetuate their oppression. At this stage, the women share their feelings and experiences with one another and build a common vision and mission.

References:

Kurukshetra, June, 2009 to June, 2010

World Development Report, Economic Indicators-World Bank, 2010

Gender Identity orient Longman, New Delhi

Govt. Of India Census Reports 2001

Yojana, May 2010, Women in the Eleventh Plan

Zainab Rahman (2005) Women and Society, KalpazPublications, Delhi, p.155

PhulrenuGuha and Others, Op.cit, P.184

Neera Desai and VibhutiPatel, Op.cit.P.32, 35

Domestic Violence In Indian Scenario

Mrs. Bhawna Sharma[1]
Asstt.Professor,
Department of Education,
Hawabagh Women's College,
Jabalpur (M.P.)

Dr. Rita Arora[2]
Asstt. Professor,
Department of Education,
Hawabagh Women's College,
Jabalpur (M.P.)

INTRODUCTION :-

Domestic violence has emerged as one of the major social – psychological problems of present era. It is present at epidemic proportion in some or other forms around the globe and has challenged the very existence of humanity in general and female population in particular. In India, domestic violence is witnessed at high rate since antiquity in various forms i.e., Manasa (Psychological abuses), vachha (Verbal assaults) and Karmana (Physical assaults or torture). However, this evil is either unnoticed or ignored due very personal or familial issue. Consequently, very silently but rapidly domestic violence has achieved epidemic place in our society ranging from physical assaults, psychological abuses, sexual abuses, spiritual and economic abuses to infanticides, homicides or dowry deaths.

DOMESTIC VIOLENCE –

Domestic abuses, spousal abuse, intimate partner violence, battering or family violence is a pattern of behavior which involves violence or other abuse by one person in a domestic context against another, such as in marriage or cohabitation. Intimate partner violence is violence by a spouse or partner in an intimate relationship against the other spouse or partner. Domestic violence can take place in heterosexual or same-sex relationships. Domestic violence can take a number of forms including physical, emotional, verbal, economic and sexual abuse, which can range from subtle, coercive forms to marital rape and to violent physical abuse that results in disfigurement or death. Domestic murders include honor killings and dowry deaths.

Globally, a wife or female partner is more commonly the victim of domestic violence, though the victim can also be the male partner, or both partners may engage in abusive or violent behavior, or the victim may act in self-defense or retaliation. Women in the developed world who experience domestic violence are often openly encouraged to report it to the authorities, whereas it has been argreed that domestic violence against men is most often unreported because of social pressure against such reporting, with those that do facing social stigma regarding their perceived lack of machismo and other denigrations of their masculinity.

Domestic violence often occurs because the abuser believes that abuse is justified and acceptable, and may produce intergenerational cycles of abuse that condone violence. Awareness, perception, definition and documentation of domestic violence differs widely from country to country. There may be a cycle of abuse during which tensions rise and an act of violence is committed, followed by a period of reconciliation and calm. Victims of domestic violence may be trapped in domestic violent situations through isolation, power and control, insufficient financial resources, fear, shame or to protect children. As a result of abuse, victims may

experience physical disabilities, chronic health problems, mental illness, limited finances and poor ability to create healthy relationships. Victims may experience post – traumatic stress disorder. Children who live in a household with violence show deregulated aggression from an early age that may later contribute to continuing the legacy of abuse when they reach adulthood. Domestic violence often happens in the context of forced and child marriage.

Traditionally, domestic violence (DV) was mostly associated with physical violence. For instance, according to the Merriam – Webster dictionary definition, domestic violence is the inflicting of physical injury by one family or household member on another, also a repeated habitual pattern of such behavior. Domestic violence is now more broadly defined, often but not always including all acts of physical, sexual, psychological or economic violence that may be committed by a person who is a family member or a person that has been an intimate partner or espouse, irrespective of whether they lived together. In the year 1993, The United Nations Declaration on the Elimination of Violence against Women identified domestic violence as one of three contexts in which violence against women occurs, describing it as "Physical, sexual and psychological violence occurring in the family, including battering, sexual abuse of female children in the household, dowry – related violence, marital rape, female genital mutilation and other traditional practices harmful to women, non-spousal violence and violence related to exploitation.

Domestic violence is a broader team, often used to include child abuse, and other violent acts between family members child maltreatment, sometimes referred to as child abuse and neglect, includes all forms of physical and emotional ill-treatment, sexual abuse, neglect and exploitation that results in actual or potential harm to the child's health, development of dignity. Within this broad definition, five subtypes can be distinguished – physical abuse, sexual abuse, neglect and negligent treatment, emotional abuse and exploitation. Elder abuse is a single, or repeated act, or lack of appropriate action, occurring within any relationship where there is an expectation of trust which causes harm or distress to an elder person.

The ability of victims of Domestic violence to leave the violent relation is crucial, for preventing further abuse. In traditional communities, divorced women often feel rejected and ostracized. In order to avoid this stigma, many women prefer to remain in the marriage and endure the abuse. Discriminatory marriage and divorce laws can also play a role in the proliferation of Domestic Violence. In many countries a women's access to property hinges on her relationship to a man. When she separates from her husband or when he dies, she risks losing her home, land, household goods and other property. Failure to ensure equal property rights upon separation or divorce discourages women from leaving violent marriages, as women may be forced to choose between violence at home and destitution in the street. The legal inability to obtain a divorce, due to complicated grounds for divorce in countries which do not accept any fault divorce is also a factor in the proliferation of Domestic violence. In some cultures where marriages are arranged between families, a woman who attempts a separation or divorce without the consent of her husband and extended family or relatives may risk being subjected to honor based violence. The custom of bride price also-makes leaving a marriage more difficult, if the wife wants to leave, the husband may

demand back the pride price from her family who often cannot or does not want to pay it back.

References:

1. Fadeiye, J.D.(1985) A Text of Social Studies; Socialization and Political Culture International Organisation for NCE- and Undergraduates. Ibadan; Etori

2. Astone, N.M., & M Chenahan, S.S. (1991) Family Structure, Parental Practices, and High School Completion, American Sociological Review, 56(3)m 309-320

3. Mulkey, L.M., Crain, R.L. & Harrington, A.J.C. (1992) One-parent households and achievement : Economic and behavioral explanations of a small effect. Sociology of Education, 65(1), 48–65.

4. Thiessen, S. (1997) Effects of Single parenting on adolescent academic achievement: Establishing a risk and protective framework. http://www.eric.ed.gov/PDFS/ED412479.pdf.

महिला सशक्तिकरण एवं सरकारी व गैर–सरकारी संगठनों

श्रीमती निधि माथुर शोध छात्रा,रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय जबलपुर (मध्यप्रदेश)

महिला सशक्तिकरण केवल वर्तमान युग का नारा ही नहीं बल्कि राष्ट्र के विकास की अनिवार्यता भी है। यह तभी संभव है जब हम स्त्रियों एवं बालिकाओं के प्रति अपनी मानसिकता एवं सोच में बदलाव लायें तथा महिलाओं को स्वयं की ताकत जानने के लिये प्रेरित करें। महिलायें जब तक अपनी आत्मशक्ति एवं आत्म विश्वास को जागृत नहीं करेंगे तब तक बाह्य कारक उसे सशक्त नहीं बना सकते।

महिला सशक्तिकरण के अंतर्गत शिक्षा की गुणवत्ता को प्रभावशाली बनाने में सरकारी एवं गैर–सरकारी संगठनों की योजनायें अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही हैं। इन संगठनों का मुख्य उद्देश्य ही महिलाओं को सशक्त बनाना हैं एवं उनका मार्गदर्शन करना है।

महिलायें आज किसी भी क्षेत्र में पीछे नहीं है वे मेहनत करने में पुरूषों से बहुत आगे बढ़ गई है मेहनत का फल मीठा होता हैं वे समझ चुकी है। वे चाहती है उनके काम को तरक्की मिले एवं सराहा जाय इसलिये ये आवश्यक हो जाता है कि हम महिलाओं की इस सोच को सकारात्मक रूप दे उनका साथ दें जिसमें उनका नेट वर्क बढ़े उनकी छवि उभर कर सामने आये। परिवार समाज आफिस के लोग उसका साथ दें एवं समस्या लेकर सामने आयें ताकि उनको दूर करने का प्रयत्न कर सकें। काम छोटा या बड़ा नहीं होता इस भावना के साथ उनके काम की सराहना करें।

महिलाओं का आत्मविश्वास इतना अधिक जागृत हो गया है कि जीवन में आगे बढ़ने के लिये वे हर क्षण तैयार है। आज देश के अंदर अनेक महिला गैर सरकारी संगठन निर्मित हो गयें है कि वे महिलाओं को आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहित कर रहें है। ये महिला संगठन वर्ष में कई बार ज्ञानवर्धक कार्यक्रम आयोजित करते है। आज तो विभिन्न कार्यक्रमों के अलावा महिलाओं को वास्तु संबंधित जानकारी महिला वास्तु विशेषज्ञों के द्वारा बड़े ही खूबसूरत ढंग से बताई जा रही है। दूरदर्शन के तेज चेनल में यह कार्यक्रम प्रस्तुत किया जा रहा है।

महिलाओं के कल्याण एवं विकास उत्थान हेतु महिला सशक्तिकरण का प्रयोग शासन के द्वारा अब बड़ी तीव्र गति से किया जाने लगा है। पूर्व में इस ओर इतना ध्यान नहीं दिया जाता था। इसे केवल महिलाओं के उत्थान का विकास का नाम दिया जाता था। आधुनिक समय में इसे नारी सशक्ता एवं सशक्तिकरण के नाम से पुकारा जाने लगा।

प्रमुख बातें :–

1. सरकारी एवं गैर–सरकारी संगठनों की शाला में अध्ययनरत् छात्राओं में महिला सशक्तिकरण के लिये चलाई जा रही योजनाओं में पड़ने वाली प्रभावशीलता का अध्ययन करना।

2. सरकारी योजनाओं एवं गैर–सरकारी संगठनों के प्रमुखों द्वारा महिला सशक्तिकरण के लिये किये प्रयासों का अध्ययन करना।

3. सरकारी योजनाओं एवं गैर–सरकारी संगठनों से छात्रायें कहां तक अवगत हैं इसकी जानकारी प्राप्त करना।

4. सरकारी योजनाओं एवं गैर–सरकारी संगठनों का विद्यालयों में अध्ययनरत् छात्राओं के सशक्तिकरण हेतु चलाये जा रहे व्यावसायिक पाठ्यक्रमों के योगदान का अध्ययन करना।

5. सरकारी योजनाओं एवं गैर–सरकारी संगठनों के सदस्यों का महिला सशक्तिकरण के लिये किये गये प्रयासों का तुलनात्मक अध्ययन करना।

6. सरकारी योजनाओं एवं गैर–सरकारी संगठनों के द्वारा किये स्वरोजगार संबंधी कार्यो का अध्ययन कराना।

7. महिलाओं को स्वतंत्र एवं सशक्त बनाना ही आधुनिक शिक्षा की सार्थकता एवं उपयोगिता का अध्ययन है इस शोध का प्रमुख उद्देश्य है।

8. महिलाओं को वर्तमान स्थिति का एवं उनके अधिकारों से परिचित कराते हुए उनको गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करना।

सारणी –1

शासकीय हाई स्कूल स्तर पर अध्ययनरत सामान्य एवं अनुसूचित जाति छात्राओं की महिला सशक्तिकरण हेतु क्रियाशील सरकारी योजनाओं एवं गैर–सरकारी संगठनों की प्रभावशीलता से संबंधित परिणाम

समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	मानक त्रुटि	क्रांतिक अनुपात	सार्थकता
सामान्य वर्ग	100	42.30	11.78	1.99	3.66	सार्थक अंतर हैं।
अनुसूचित जाति	100	35.60	16.15			

स्वतंत्रता के अंश –198

0.05 विश्वास के स्तर पर सार्थकता हेतु मान – 1.97

0.01 विश्वास के स्तर पर सार्थकता हेतु मान – 2.60

सारणी –2

शासकीय हाई स्कूल स्तर पर अध्ययनरत सामान्य एवं अनुसूचित जनजाति छात्राओं की महिला सशक्तिकरण हेतु क्रियाशील सरकारी योजनाओं एवं गैर–सरकारी संगठनों की प्रभावशीलता से संबंधित परिणाम

समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	मानक त्रुटि	क्रांतिक अनुपात	सार्थकता
सामान्य वर्ग	100	42.30	11.78	2.01	4.17	सार्थक अंतर हैं।
अनुसूचित जाति	100	33.90	16.36			

स्वतंत्रता के अंश –198

0.05 विश्वास के स्तर पर सार्थकता हेतु मान – 1.97

0.01 विश्वास के स्तर पर सार्थकता हेतु मान – 2.60

सारणी –3

शासकीय हाई स्कूल स्तर पर अध्ययनरत पिछड़ा वर्ग एवं अनुसूचित जाति छात्राओं की महिला सशक्तिकरण हेतु क्रियाशील सरकारी योजनाओं एवं गैर–सरकारी संगठनों की प्रभावशीलता से संबंधित परिणाम

समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	मानक त्रुटि	क्रांतिक अनुपात	सार्थकता
पिछड़ा वर्ग	100	42.30	11.95	2.00	3.65	सार्थक अंतर हैं।
अनुसूचित जाति	100	35.60	16.15			

स्वतंत्रता के अंश –198

0.05 विश्वास के स्तर पर सार्थकता हेतु मान – 1.97

0.01 विश्वास के स्तर पर सार्थकता हेतु मान – 2.60

सारणी –4

शासकीय हाई स्कूल स्तर पर अध्ययनरत पिछड़ा वर्ग एवं अनुसूचित जनजाति छात्राओं की महिला सशक्तिकरण हेतु क्रियाशील सरकारी योजनाओं एवं गैर–सरकारी संगठनों की प्रभावशीलता से संबंधित परिणाम

समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	मानक त्रुटि	क्रांतिक अनुपात	सार्थकता
पिछड़ा वर्ग	100	42.90	11.95	2.00	4.45	सार्थक अंतर हैं।
अनुसूचित जाति	100	33.90	16.36			

स्वतंत्रता के अंश –198

0.05 विश्वास के स्तर पर सार्थकता हेतु मान – 1.97

0.01 विश्वास के स्तर पर सार्थकता हेतु मान – 2.60

सारणी –5

शासकीय हाई स्कूल स्तर पर अध्ययनरत अनुसूचित जाति वर्ग एवं अनुसूचित जनजाति छात्राओं की महिला सशक्तिकरण हेतु क्रियाशील सरकारी योजनाओं एवं गैर–सरकारी संगठनों की प्रभावशीलता से संबंधित परिणाम

समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	मानक त्रुटि	क्रांतिक अनुपात	सार्थकता
अनुसूचित जाति	100	35.60	16.15	2.29	0.74	सार्थक नहीं अंतर हैं।
अनुसूचित जनजाति	100	33.90	16.36			

स्वतंत्रता के अंश –198 0.05 विश्वास के स्तर पर सार्थकता हेतु मान – 1.97
0.01 विश्वास के स्तर पर सार्थकता हेतु मान – 2.60

सारणी –6

अशासकीय हाई स्कूल स्तर पर अध्ययनरत सामान्य एवं पिछड़ा वर्ग छात्राओं की महिला सशक्तिकरण हेतु क्रियाशील सरकारी योजनाओं एवं गैर–सरकारी संगठनों की प्रभावशीलता से संबंधित परिणाम

समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	मानक त्रुटि	क्रांतिक अनुपात	सार्थकता
सामान्य वर्ग	100	38.50	17.60	2.26	1.54	सार्थक अंतर नहीं हैं।
पिछड़ा वर्ग	100	42.00	14.21			

स्वतंत्रता के अंश –198 0.05 विश्वास के स्तर पर सार्थकता हेतु मान – 1.97
0.01 विश्वास के स्तर पर सार्थकता हेतु मान – 2.60

सारणी–7

अशासकीय हाई स्कूल स्तर पर अध्ययनरत सामान्य एवं अनुसूचित जाति छात्राओं की महिला सशक्तिकरण हेतु क्रियाशील सरकारी योजनाओं एवं गैर–सरकारी संगठनों की प्रभावशीलता से संबंधित परिणाम

समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	मानक त्रुटि	क्रांतिक अनुपात	सार्थकता
सामान्य वर्ग	100	38.50	17.60	2.31	0.08	सार्थक अंतर नहीं हैं।
अनुसूचित जाति	100	38.30	15.06			

स्वतंत्रता के अंश –198 0.05 विश्वास के स्तर पर सार्थकता हेतु मान – 1.97
0.01 विश्वास के स्तर पर सार्थकता हेतु मान – 2.60

सारणी –8

अशासकीय हाई स्कूल स्तर पर अध्ययनरत सामान्य एवं अनुसूचित जनजाति छात्राओं की महिला सशक्तिकरण हेतु क्रियाशील सरकारी योजनाओं एवं गैर–सरकारी संगठनों की प्रभावशीलता से संबंधित परिणाम

समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	मानक त्रुटि	क्रांतिक अनुपात	सार्थकता
सामान्य वर्ग	100	38.50	17.60	2.54	0.30	सार्थक अंतर नहीं हैं।
अनुसूचित जाति	100	36.60	18.38			

स्वतंत्रता के अंश –198 0.05 विश्वास के स्तर पर सार्थकता हेतु मान – 1.97
0.01 विश्वास के स्तर पर सार्थकता हेतु मान – 2.60

समस्या एवं सुझाव –

1. सरकार द्वारा महिलाओं को प्रदत्त अधिकारों की पूर्ण जानकारी के अभाव में ग्रामीण क्षेत्र में महिलाओं के सशक्तिकरण में कमी आ जाती है। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति की महिलायें अपने अधिकारों की जानकारी से वंचित हो जाती है जिसके लिये प्रयास करना आवश्यक है।

2. कानून के अधिकार, स्वास्थ्य एवं सुरक्षित माहौल बनाना भी महिलाओं के लिये अति आवश्यक है।

3. गैर सरकारी संगठन जिस तरह सरकारी योजनाओं में अपना योगदान देते है जैसे कि नुक्कड़ सभायें करते हैं, नाटक करते है, शिक्षण संस्थाओं में जाकर उन्हें अपना सहयोग प्रदान करते हैं उसी प्रकार सरकार को भी प्रयोगात्मक कार्य करने के लिये अपने कर्मचारियों को निर्देशित करना चाहिये।

4. ऐसे विषयों को पाठ्यक्रमों में शामिल किया जाये, जो महिला को सशक्त बनाने में सहायक होते हैं।

5. ग्रामीण क्षेत्रों में प्रशिक्षित एवं तकनीकी ज्ञान प्राप्त शिक्षकों की नियुक्ति की जानी चाहिये।

6. ग्रामीण क्षेत्रों में शैक्षिक संसाधनों की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिये।

7. बालिका विद्यालयों में केवल महिला शिक्षकों की नियुक्ति की जानी चाहिए।

8. बालिका विद्यालयों में चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी भी केवल महिलाओं को ही नियुक्त किया जाना चाहिए।

संस्था प्रमुख/ग्राम पंचायत प्रमुख हेतु सुझाव –

1. सरकार द्वारा प्रदत्त योजनाओं का सख्ती से पालन होना चाहिये।

2. शिक्षकों एवं अभिभावकों के साथ प्रतिमाह शिक्षा से संबंधित मीटिंग बुलाकर आयोजन करने चाहिये।

3. ग्रामीण क्षेत्रों में सरकारी महिला काऊंसलरों की नियुक्ति की जानी चाहिये।

कृषि से होता उद्योगों का विकास

श्रीमति रश्मि पटैल, शोध छात्रा, अर्थशास्त्र विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय जबलपुर

प्राचीन काल से भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है। नियोजन के लगभग 60 वर्षो में कृषि के स्वरूप में कुछ परिवर्तन देखने को मिला है, लेकिन फिर भी कृषि ने देश की अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। देश की राष्ट्रीय आय, रोजगार विदेशी व्यापार, पूंजीनिर्माण, आयात–प्रतिस्थापन, जीवन स्तर आदि सभी को कृषि क्षेत्र ने बहुत अधिक प्रभावित किया है। हमारे देश के लगभग 70 प्रतिशत लोग ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते हैं जिनमें से लगभग 52 प्रतिशत लोग कृषि संबंधित क्षेत्रों से अपनी आजीविका प्राप्त करते है। भारत के कुल विदेशी व्यापार (निर्यातों) में कृषि का योगदान 17 प्रतिशत के लगभग देखने को मिलता है।

भारत में कृषि बहुत से उद्योगों का आधार है। इनमें चाय, जूट, कपड़ा, चीनी आदि। उद्योगों को शामिल किया जाता है, अर्थात् कृषि भारतीय उद्योगों की जननी कही जाती हैं, किन्तु पिछले कुछ वर्षो में उद्योगों के लिये कृषि का महत्व कुछ कम हुआ है। विभिन्न उद्योगों में तो (जैसे उर्वरक, कीटनाशक दवाइयां ट्रैक्टर थ्रेसर आदि) कृषि क्षेत्र की मांग पर ही निर्भर करते है। इस प्रकार भारतीय अर्थव्यवस्था की संरचनात्मक परिवर्तन की दशा से यह ज्ञाात होता है कि भारत में उद्योगों के महत्व में वृद्धि हुई है, लेकिन फिर भी कृषि भारतीय उद्योगों का आधार तथा आर्थिक विकास की कुंजी के रूप में देखने को मिलती है।

राष्ट्रीय आय एवं उसके संघटकों के सरकारी आकलन नियमित रूप से एवं वार्षिक आधार पर 1948–49 से प्राप्त होते है। इससे पूर्व व्यक्तिगत आधार पर दादाभाई नौरोजी, लार्ड कर्जन, बारबर आदि विद्वानों ने समय–समय पर जो आकलन तैयार किए हैं उससे स्पष्ट होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लगभग प्रथम महायुद्ध तक दो तिहाई राष्ट्रीय आय कृषि क्षेत्र से प्राप्त होती थी, जो औद्यागिक विकास के पिछड़ेपन औद्योगिक आधारभूत आर्थिक संरचना के अभाव का प्रभाण थी।

विदेशी व्यापार की दृष्टि से भी कृषि का भारतीय अर्थव्यवस्था में विशेष महत्व है। वर्तमान में लगभग 17 प्रतिशत कुल निर्यातों में कृषि वस्तुओं का होता है। इस श्रेणी में चाय, जूट, सूती वस्त्र, खली, काजू तम्बाकू, वनस्पति तेल, काली मिर्च, चमड़ा आदि वस्तुएं है, जो निर्यात की जाती है। सरकार द्वारा देश के कृषि विकास के लिये निम्नलिखित उपाय कर सकती है, जैसे– उत्पादन की नई तकनीक का प्रयोग कृषि आगतों के लिये आर्थिक सहायता कृषि विपणन की व्यवस्था, यातायात, के साधनों का विकास मूल्य संबंधी सूचनाओं का प्रकाशन साख सुविधाओं का विस्तार कार्य पदार्थो के मूल्य में स्थिरीकरण आदि। इन सभी उपायों पर सरकार कार्य कर सकती है जिससे कृषि उत्पादन में वृद्धि होगी तथा जो देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

सहकारिता से तात्पर्य परस्पर सहयोग से मिल–जुलकर कार्य करने से है अर्थात् किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपसी सहयोग के आधार पर कार्य करना सहकारिता कहलाता है। सहकारिता संगठन आर्थिक दृष्टि से निर्बल उस संगठन का नाम है जो स्वेच्छा से आर्थिक हितों की पूर्ति के लिये बनाया जाता है। इससे आपसी सहयोग, त्याग, आत्मनिर्भरता और मितव्ययिता आदि गुणों का विकास होता है। भारतीय सहकारी नियोजन समिति ने भी अपनी सहकारिता संबंधी विचारों में कहा है कि ''सहकारिता एक ऐसा संगठन एक ऐसा संगठन है जिसमें व्यक्ति स्वेच्छा से समानता के आधार पर अपनी आर्थिक उन्नति हेतु सम्मिलित होते है।

सहकारी आंदोलन का मूल्यांकन –यह एक वाद–विवाद का विषय है कि सहकारित ने भारतीय कृषि में परिवर्तन करके कृषि उद्योग लाभदायक बनाया है या सहकारिता से कृषि उत्पादन, विपणन व्यवस्था, यातायात आदि समस्याओं में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

भारत में सहकारिता आंदोलन के परिणामस्वरूप किसानों को बहुत अधिक लाभ प्राप्त हुए हैं, जैसे – किसानों को सस्ती दर पर आसानी से ऋण उपलब्ध हो जाता है जिससे किसानों की ऋणग्रस्तता में कमी आयी है। इस समय भारत में सहकारी समितियां किसानों की एक चौथाई ऋण आवश्यकताओं को पूरा कर रही हैं। इसके अतिरिक्त सहकारी आंदोलन की सफलता उपभोक्ता समितियों एवं उद्योगों में दिखाई पड़ती है।

इसके अतिरिक्त समितियों ने उत्तम बीज, कृषि उपज को बेचने व कृषि पदार्थो को रखने के लिये गोदामों की व्यवस्था की है। तीसरे सहकारी समितियों ने शहरी क्षेत्रों में भी मध्यम आय वर्ग के लोगों को मकान बनाने तथा अन्य कार्यो के लिये सहायता प्रदान की है। इस प्रकार सहकारिता के अंतर्गत ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में निम्न आय वर्गो के लोगों के आर्थिक विकास में एक महत्वपूर्ण योगदान नहीं है।

इन सफलताओं के बावजूद सहकारिता आंदोलन का लाभ अधिकांश जनता को नहीं मिल पाया हैं। सहकारिता आंदोलन का कहना है कि सहकारिता न तो ग्रामीण जनता की गरीबी को ही मिटा पाया है और न ही इसके परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन में वृद्धि, विपणन की अच्छी व्यवस्था, उन्नत जीवन स्तर ही प्राप्त हुए हैं तथा यह आंदोलन कृषि में साहूकारों व जमींदारों के शोषण पर नियंत्रण करने में असफल रहा है। गुन्नार मिर्डल ने सहकारिता आंदोलन के बारे में लिखा है, ''समिति को देखकर यह चिन्ता होती है कि निहित स्वार्थ देश में सहकारी समिति के संचालन को बिगाड़ रहे हैं। यह स्थिति सहकारी आंदोलन के भविष्य के लिये खतरे से पूर्व है तथा आंदोलन की उपयोगिता एवं आवश्यकता के विषय में जनता के विश्वास को समाप्त कर देगी।

सहकारिता के संदर्भ में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सहकारिता से आर्थिक लाभ के अतिरिक्त सामाजिक व नैतिक लाभ भी देखने को मिले हैं। जिन क्षेत्रों में सहकारित सफल रही है उन क्षत्रों में लोगों का आपसी सहयोग तथा सद्भावना का विकास हुआ है। लोगों में फिजूल–खर्ची तथा मुकदमेबाजी की प्रवृत्ति कम हुई है तथा लोगों में ईमानदार, शिक्षा आत्मनिर्भरता, मितव्ययिता स्वावलम्बन तथा पारस्परिक सहयोग की भावना का विकास हुआ है जिससे ग्रामीण क्षेत्रों के विकास में सरकार को सहकारित के माध्यम से बहुत सफलता प्राप्त हुई है।

विश्व व्यापार संगठन के कृषि प्रावधान

भारत में कृषि क्षेत्र में विश्व व्यापार संगठन के प्रावधानों को लागू किए जाने के फलस्वरूप कृषि व सम्बद्ध क्षेत्र में आयात पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटाकर विदेशी उत्पादकों के लिये दरवाजे पूरी तरह खोल दिए जाते है। विश्व व्यापार संगठन के कृषि प्रावधान से संबंधित ये विचार मूलरूप से विकसित देशों की वास्तविक समस्याओं से सम्बद्ध है। अत्यधिक सब्सिडी और परिणामस्वरूप संरचनात्मक अधिशेष विकसित देशों की चिन्ता का विषय था, और हैं। इसके विपरीत भारत जैसे विकासशील देशों के लिये चिन्ता का विषय है। कम उत्पादकता अपर्याप्त सार्वजनिक व निजी निवेश, तकनीक की अनुपलब्धता तथा बढ़ती जनसंख्या के लिये खाद्य सुरक्षा WTO के प्रावधानों को भारतीय कृषि के संदर्भ में निम्नवत् देखा जा सकता है

1. भारतीय कृषि कीमतें अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों से नीची थीं, परंतु विकसित देशों द्वारा अधिकांश मात्रा में सब्सिडी उपलब्ध कराने के परिणामस्वरूप परिस्थितियों में बदलाव आ रहा हैं। चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय कीमतें भारतीय कृषि कीमतों से नीची हो गई हैं, इसलिये भारतीय किसानों को नुकसान हो रहा है। किसानों द्वारा की जाने वाली आत्महत्याएं और कई राज्यों में बढ़ती हुई अशांति का कारण यह है कि किसान कृषि उत्पादन व निर्यात में लगे हुए थे। उन्हें घोर संकट का सामना करना पड़ रहा है। इस संबंध में प्रो. पी.आर. ब्रह्मनंद का कथन है कि ''हमें अपने देश के हितों को सर्वोपरि स्थान देना चाहिए। यदि हमें किसानों के हितों के लिये (WTO) को छोड़ना भी पड़े तो मैं इसे अनुचित नहीं समझता।''

2. विश्व व्यापार संगठन (WTO) का एक और समझौता तो कृषि पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सकता है। यह 'बौद्धिक सम्पदा अधिकार' विशेषकर सूक्ष्मजीवों और पौध तथा बीज की किस्मों के संरक्षण से संबंधित अधिकार है। आलोचकों का कहना है कि बीजों एवं पौधों की किस्मों का पेटेन्ट होने से देश के कृषक प्रत्येक वर्ष बीज बहुर्राष्ट्रीय कंपनियों से खरीदने होंगे और वह अपने फार्म पर उत्पादित बीजों का अगली फसल के लिये प्रयोग में नहीं ले सकेंगे। अतः विभिन्न फसलों की उत्पादन लागत में वृद्धि होगी।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है भारतीय फार्मो को अपने उत्पादों को पेटेन्ट के रूप में पंजीकृत कराने की संस्कृति का विकास करना होगा तथा भारत सरकार (WTO) के साथ बातचीत में भारतीय कृषि तथा जनता के हितों का पूरा ध्यान रखें। किसान के संदर्भ में यह कहा जाता है कि किसान के दोनों हाथ हल पर तथा उसकी दोनों आंखें बाजार पर होनी चाहिए। किसान को यह पता होना चाहिए कि वह जिस फसल का उत्पादन करगा उसकी सबसे अच्छी कीमत किस बाजार में प्राप्त हो सकती है, लेकिन भारतीय कृषि में विपणन की उचित

व्यवस्था देखने को नहीं मिलता है, कृषि उत्पादन के विपणन में निम्नलिखित समस्याएं देखने को मिलती है :–

1. **बिचौलियों की लंबी श्रृंखला** – भारत में कृषि उपज के विपणन में मध्यस्थों (किसानों व उपभोक्ताओं के बीच)की एक लंबी श्रृंखला है। जिसमें गांव का साहूकार, महाजन, घूमता–फिरता व्यापारी, कच्चा आढ़तिया, पक्का आढ़तिया, थोक व्यापारी, मिल वाला, दलाल, निर्यातकर्ता, व्यापारी आदि शामिल है। इन सभी के द्वारा कुछ–न–कुछ लाभ अवश्य मिल जाता है। जिसका प्रभाव यह होता है कि उपभोक्ता द्वारा दिए जाने वाले मूल्य क एक महत्वपूर्ण भाग यह मध्यस्थ ले लेते है।

2. **मण्डियों की कुरीतियां** – भारत में मंडियों में बहुत सी कुरीतियां देखने को मिलती हैं। जिससे किसानों का शोषण होता है। यहां 1. तराजू–बाट में गड़बड़ी की जाती, 2. नमूने के रूप में उपज का एक अंश निकाल लिया जाता हैं, 3. मूल्य आढ़तिया व किसान का दलाल तय करता है जिसमें किसान को विश्वास में नहीं लिया जाता है, 4. दलाल सदा ही आढ़तिए का पक्ष लेता है, 5. यदि विवाद होता है इस स्थिति में किसान के हितों की रक्षा करने वाला कोई नहीं होता है।

3. **श्रेणीकरण व प्रमापीकरण का अभाव** –भारत में कृषि उत्पादन में श्रेणीकरण व प्रमापीकरण का अभाव पाया जाता है। बहुत से किसान जानबूझकर मिट्टी या अन्य किसी ऐसी वस्तु को मिलावट करके उपज को बेचने के लिये ले आते है जिसका परिणाम यह होता है कि किसान को अपनी उपज का कम मूल्य प्राप्त होता है।

4. **परिवहन सुविधाओं का अभाव** – किसानों को विपणन के लिए परिवहन सुविधाओं की समस्याओं का भी सामना करना पड़ता है। गांव से शहर को जोड़ने वाली अधिकांश सड़कें कच्ची हैं जिन पर बरसात के मौसम में चलना बहुत मुश्किल होता है। परिवहन के साधनों के रूप में ऊंट, गधा, खच्चर, बैलगाड़ी आदि का प्रयोग किया जाता है। ये साधन मंहगे पड़ते हैं समय भी अधिक लगता है तथा कृषि वस्तुओं का क्षय भी होता है।

5. **मूल्य संबंधी सूचनाओं का अभाव** –किसानों को मूल्य संबंधी जानकारी भी नहीं होती हैं, क्योंकि गांवों में समाचार–पत्र व पत्रिकाओं का अभाव होता है। साथ ही अधिकांश कृषक अनपढ़ भी होते हैं तथा वे महाजनों द्वारा बताए गए मूल्यों पर विश्वास कर लेते हैं जो शायद ही उनको उचित मूल्य बताते है।

समकालीन गीतिकाव्य धारा का विकास

श्री सच्चिदानंद दुबे, शोधार्थी, हिंदी एवं भाषाविज्ञान विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,जबलपुर

निष्पक्ष होकर देखें तो इस तथ्य को स्वीकार कर लेने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि जितनी भी ललित कलाए हैं, चाहे वो साहित्य के रूप में हो चाहे और किसी रूप में, सबकी सामंती युग की देन है। कविता, चित्रकारी, नृत्य, गायन, नाटक आदि सभी कलाएँ सामंतीकाल में सुव्यवस्थित हुई। इसी युग में इनके अलग–अलग विधि–बने। यह सही है कि मनुष्य ने पूर्व ऐतिहासिक काल में भी, जब वह गुफाओं में रहता था, कलाओं की तरफ़ अपने पग बढ़ाने आरंभ कर दिए थे। वह नाचता था, गाता था, चित्र बनाता था, पर तब ये कलाएँ प्रारंभिक अवस्था में थीं। इनका कोई विधि–विधान नहीं था, इनकी कोई व्याकरण नहीं थी। मानव–समाज में जैसे–जैसे एक ऐसा वर्ग उत्पन्न होता गया, जिसे हम इतिहास में संभ्रातवर्ग के नाम से जानते हैं, वैसे–ही–वैसे ललित कलाएँ तीव्र गति से अपने विकास की ओर बढ़ने लगीं। कारण यह था कि परिस्थितियों ने मानव–समाज में जिस संभ्रात को पैदा किया था, उसने अपने से निर्बल लोगों के श्रम पर निर्भर रहकर सुविधापूर्वक सीख लिया था। अपनी आजीविका के लिये स्वयं काम न करके वह अपने शेष समय को रचनात्मक कार्यों में लगा रहा था, यही वह वर्ग था, जिसने भिन्न–भिन्न कलाओं को शास्त्रीय विधान से युक्त किया। मानव–समाज में जब सामंतवादी रीतियाँ स्थापित हुई तो इसी संभ्रांत वर्ग के बुद्धजीवियों ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राजा–महाराजाओं, बादशाहों के दरबारों में शरण ली, उनकी प्रशंसा में कविताएँ लिखीं, महाकाव्य लिखे और जैसा कि जीवन के हर क्षेत्र में हुआ, सामंती उपलब्धियों राजशाही की पकड़ ढ़ीली होते–होते दरबारों से निकल–निकलकर गली–कूँचों की तरफ़ बढ़ती चली गई और जैसे ही राजशाही का पतन हुआ, ये समस्त उपलब्धियाँ भी जनजीवन की साझा संपत्ति में ढल गईं।

गीत की एक विशेषता यह भी थी कि उसका प्रत्येक भोर अपनी विषययुक्त के दृष्टिकोण से अपना एक अलग और पूर्ण अस्तित्व रखता था और उसमें रच सकता था, इसलिए दरबार के गीत जब शबाब, शराब और इश्क–आशिकी की मनोरंजन सामग्री को लेकर सूफ़ी–संतों की दरगाहों से जुड़ी तो भक्तिभाव की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई।

हिंदी–भाषियों को गीत की बहस में इतनी गहराई तक ले जाने की आवश्यकता नहीं थी। किंतु यह विस्तृत चर्चा इसलिए की गई कि हिंदी और उर्दू दोनों के ही पाठक यह बात भली प्रकार समझ सकें कि मानव–समाज में ललितकलाओं का उदय किस प्रकार हुआ। सांमतीवाद मे इनकी स्थिति क्या थी? गीत इस प्रक्रिया से अलग नहीं रही है।

यह तथ्य भी याद रखने योग्य है इस साहित्यिक विधा को भारत के बुद्धिजीवियों और रचनाकारों ने गीत नाम से ही उस समय स्वीकार कर लिया था। अमीर खुसरो, कबीर या भारतेन्दु ने इस विधा के अंतर्गत जो कुछ लिखा, उसे गीत नाम ही दिया। नाम पर अपना अलग ठप्पा लगाना होता तो उसी समय यह काम हो गया होता या इस प्रकार का कोई विवाद उठा होता, लेकिन नहीं उठा। इसका तात्पर्य यह है कि तब तक यहॉ गीत को गीत के नाम से स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं थी। यह आपत्ति बाद में हुई और अकारण हुई।

हमारे इस तर्क के विरोध में आसानी से कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्यकारों ने गीत को पूर्णरूप से अपनाकर गंभीरतापूर्वक कार्य किया ही नहीं था। कतिपय कवियों ने कभी कभी गीत के नाम पर थोड़ा–बहुत कार्य किया हो तो बात अलग है। उनके विचार में जब इस विधा को पूर्णरूप से अपनाने की स्थिति ही नही आई और इस विधा में उल्लेखनीय काम ही नही हुआ तो नाम ज्यों–का–त्यों रखने या उसे बदलने की चर्चा भी नही हुई। ऐसा करने वालों का पक्ष एक सीमा तक ठीक भी हो सकता है। किन्तु हमारा प्रथव और अन्तिम प्रश्न यही है कि नाम–परिवर्तन की ये मुहिम उस समय क्यों चल रही है, जब गीत हिंदी में लगभग स्थापित हो गई है। दुर्भाग्य यह है कि जिस तरह हमारा साहित्य ही नहीं, पूरा जीवन राजनीतिक नारेबाजी से भ्रमित हो रहा है, गीत भी शायद उसकी भेंट चढ़ती जा रही है। हमारा निवेदन है कि गीत को गीत ही रहने देकर यह जानने का प्रयास किया जाए। गीत एक विधा के रूप में वस्तुतः है क्या? इसकी अपनी क्या–क्या विशेषताएँ हैं ? कौन से नियमों के अन्तर्गत इसे लिखा जाना चाहिए? इसके निर्माण में कौन कौन से नियमों का पालन होता है? इसका ढाँचा किस प्रकार बनता है और इसके अत्याधिक आवश्यक अंग क्या हैं? नाम परिवर्तन

के झगड़ों में पड़ने की अपेक्षा ये बाते जानना इसलिए आवश्यक है कि हिंदी–गीत के क्षेत्र में काम करने वाले रचनाकार के अभाव में वे गलतियाँ न करें, जो गीत को गीत के स्तर से गिरा देती है।

जहाँ इसके और बहुत से कारण हैं, वहीं सबसे बड़ा कारण है कि नाम परिवर्तन के बाद इस विधा की वह सुगठित व्यवस्था भी ढीली पड़ जाएगी, जो गीत के लिये अनिवार्य मानी जाती है। स्पष्ट है कि जब गीत, गीत नहीं रहेंगे, तेवरी या गीतिका बन जाएगी तो उसके साथ वे अनिवार्यताएँ भी उसके व्याकरण की वे शर्तें भी नही रहेंगी। जो गीत को उसकी सांस्कृतिक व्यवस्था से जोड़े रखती है। ऐसा लगता है कि नाम–परिवर्तन के पक्षधर या तो किसी राजनीति का शिकार है या फिर वे अपनी सुविधा के लिए इस विधा की गहन जानकारी प्राप्त न करते हुए गीत विधागत शर्तों से मुक्त होना चाहते हैं। संभवतः वे समझते है कि जब गीत नाम नहीं रहेगा तो उसकी व्यवस्था को पूर्णरूप से मानना आवश्यक नहीं रहेगा। यह एक नकारात्मक सोच है। इसे त्यागना होगा। हमारे लिऐ ऐसे वाद विवाद में पड़ने से अच्छा है कि हम गहराई से यह जानने का प्रयास करें कि गीत क्या है और अच्छे गीत रच सकें अथवा पाठक के रूप में उसे समझ सकें।

गीत के लहजे का पुरुषार्थ उसे गीत की विधा से अलग कर देता है, लेकिन यह विशेषता मात्र गीत के अंदाज और उसके लहजे की है। इसके अतिरिक्त गीत की कुछ ऐसी रचनात्मक विशेषताएँ भी हैं, जिनकी चर्चा करना यहाँ इसलिए आवश्यक है ताकि हम गीत की आत्मा तक पहुँच सकें।

सर्वप्रथम जिस बात पर सबसे अधिक और सबसे पहले जोर दिया जाना चाहिए, वह है इसके छंदों या बहरों को पर्याप्त ज्ञान। पुस्तकीय ज्ञान न भी हो तो गीत की ये सारही बह्रें–छंद अंतर्गत कोई गीतकार अपने गीत रच रहा है, उसके अवचेतन में विद्यमान हों। वह अनुभव करें कि भोर कहते हुए वह छंद मुक्त तो नहीं हो गया है या बह्र से बाहर तो नहीं चला गया है ?उसे एहसास हो कि वह कहा–कहाँ पर गलतियाँ कर रहा है? यह योग्यता कई कवियों और शायरों में गीत के व्याकरण का पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त किए बिना भी आ जाती है। उदाहरण के लिए जब हम देखते हैं कि घर का एक बालक अपनी मातृभाषा का पुस्तकीय व्याकरण जाने बिना भी बातचीत में बिल्कुल सही भाषा का प्रयोग करता है, वह वाक्य की बनावट में भाषागत व्यवस्था से संबंधित कोई बड़ी भूल नहीं करता तो हमें कोई आश्चर्य नहीं होता। क्योंकि बालक होश सँभालते ही उस भाषागत व्यवस्था से परिचित हो जाता है, जिसे आस–पास के बड़े उसके सम्मुख क्रियात्मक रूप में पेश करते रहते हैं। धीरे–धीरे उसके कान और उसकी बुद्धि शब्दों की भाषाई व्यवस्था को चुपचाप ग्रहण करती रहती और सही वाक्य बोलने–लिखने के योग्य हो जाता है। ठीक इसी से मिलती–जुलती स्थिति गीत की भी है। यदि कोई काव्यानुकूल–स्वभाव वाला व्यक्ति निरंतर गीत की संस्कृति के संपर्क में बना रहता हैं, अभ्यास करता रहता है, यह जानने की कोशिश करता रहता है कि गीत के पहले के उस्तादों ने किस अंदाज से कहे हैं, वह उन्हें पढ़ता रहता है और याद करता रहता है तो वह बिलकुल संभव है कि वह एक अच्छी और दुरूस्त गीत कहने के योग्य हो जाए। शर्त यही है कि उस व्यक्ति का स्वभाव सर्वप्रथम तो काव्यानुकूल हो, दूसरे उसने गीत कहने–लिखने का लगतार अभ्यास किया हो। तीसरे, पहले के स्थापित उस्तादों के गीत उसने पढ़े, और कंठस्थ किए हों, उन्हें सामने रखकर यह समझने का प्रयास किया हो कि इन्हें किस व्यवस्था के अंतर्गत लिखा गया है। इन पंक्तियों के लेखक को यह सोचकर कई बार आश्चर्य हुआ है कि संत कबीर, जो उन अर्थो में शिक्षित नहीं थे, या शब्द–ज्ञान नहीं रखते थे, जिस अर्थों में हम किसी व्यक्ति का शिक्षित होना स्वीकार करते हैं, फिर भी जब 'कबीर' गीत कहते हैं तो व्याकरण संबंधी कोई ऐसी अशुद्धि नहीं छोड़ते, जिस पर दूर से ही उँगली उठाई जा सकती है।

एक अन्य कारण यह भी है कि गीत हो अथवा छंदबद्ध कविता, इसके साथ वहीं कलाकार न्याय कर सकते हैं, अर्थात स्वभाव से काव्यात्मक प्रवृत्ति का होना। कबीर और खुसरों जैसे महापुरुष अपने जन्म से ही काव्यात्मक स्वभाव वाले व्यक्ति थे। उन्होंने दोहा, कविता, अथवा गीत को सिर्फ पढ़–सुनकर ही उसके छंदो/मात्राओं को गहराई के साथ समझा था। बाद में विदेशी साम्राज्य के साथ भारतीय साहित्य में भी क्रांतिकारी परिवर्तन आया और कविता को धीरे–धीरे छंदों के बंधन से मुक्त कर दिया गया तो नाम, ख्याति और लोकप्रियता अर्जित करने के लिये ऐसे लोग भी कविता के क्षेत्र में आ गए, जिनकी मूल प्रवृत्ति जो छंदमुक्त प्रणाली में व्यक्त हो सकता हो सकता था और हुआ भी किंतु जब इन काव्यात्मक स्वभाव से विहीन लोगों ने गीत लिखना आरंभ किया तो स्वभावतः वे गीत की उस विधागत अनिवार्यता को पूरा नही कर सकें, जो उसके लिए आवश्यक थी। परिणामतः गीत के नाम पर भारी अराजकता व्याप्त हो गई। नाममात्र के कुछ लोगों को छोड़कर एक बड़ी भीड़ उन लोगों की थी, जिन्होंने गीत के नाम पर अतुकांत और छंदविहीन पंक्तियाँ लिखीं। ऐसी रचनाएँ गीत के नाम से पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित भी

हुई। यह सामग्री दूसरों के लिए नमूना बनी और इस तरह गीत के नाम पर गीतहीनता को बढ़ावा मिलता गया। निःसंदेह, इस स्थिति को बढ़ाने में पत्र–पत्रिकाओं के संपादकों का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है, किन्तु हम उन्हें इसलिए सीधा–सीधा दोष नहीं ठहरा सकते कि गीत को पराया समझने का जो लंबा दौर बीता था, उसने भी संपादकों–प्रकाशकों को बड़ी सीमा तक गीत की विधा से अपरिचित कर दिया था। यहाँ तक कि वह एक सही और गलत गीत के बीच अंतर करने की क्षमता ही खो बैठे थे। ऐसी स्थिति में गीत के नाम पर जो सामग्री उन्हें मिलती रही और उन्हें अपनी रुचि और पसंद के अनुसार ठीक लगी, वहीं उन्होने प्रकाशित की।

परिणामतः हिंदी में गीत की एक गलत परंपरा बनती गई। कुछ ही नाम ऐसे सामने आए, जिन्होंने अपने काव्यात्मक स्वभाव के अंतर्गत गीत को पहचाना। लेकिन ऐसे नाम बहुत कम है। जैसे – रवीन्द्र भ्रमर, बुद्धिनाथ मिश्र, श्री शम्भूनाथ सिंह, डॉ. मधुरिमा सिंह, फिर भी इन्हीं नामों को गीत की लाज रखी और इन्हीं से हिंदी–गीत को शक्ति और समृद्धि प्राप्त हुई।

1.गीतिकाव्य : रामखेलवान पाण्डेय, पृ. 18, 19

2. गीतिका, भूमिका से : 1

3. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा : स्व. पाण्डेय और डॉ. नानूराम व्यास, पृ. 266

4. संस्कृत साहित्य का इतिहास : बलदेव उपाध्याय, पृ. 284

5. गीत (पत्रिका) लेख, गीत में संगीतात्मकता, ले. नरेन्द्र शर्मा, सं. दिनेश सक्सेना दिनेशायन, भूपेन्द्र कुमार' स्नेही ', पृ. 20

6. गीत (पत्रिका) लेख, अंतरंग चेतना का माध्यम गीत, नन्ददुलारे बाजपेयी,पृ.27

7. महोदेवीः सम्पा. इन्द्रनाथ मदान, लेख, कलापक्ष, लेखक विश्वम्भर 'मानव' पृ.77

8. साप्ताहिक हिन्दुस्थान 30 अक्टूबर, 66 लेख, प्रश्नचिन्हों की भीड़ में घिरा गीत, लेखक 'नीरज' पृ. 18

पश्चिमी राजस्थान के स्वतंत्रता आन्दोलन में हिन्दी पत्रकारिता की भूमिका

धर्मेन्द्र कुमार दुबे, रिसर्च स्कॉलर, पैसिफिक विश्वविद्यालय, उदयपुर

स्वतंत्रता आन्दोलन के कारणों का अध्ययन हमें बताता है कि किस प्रकार दमनकारी नितियों ने अपने पग पसारे और आम जन को आहत किया। जन भावना को प्रकट करना और इस भावना को, समझ कर उसे एक दिशा देते हुए आन्दोलन का स्वरूप देने में जिन आन्दोलन कारियों की भूमिका रही उन सभी ने कहीं न कहीं पत्रकारिता से सम्बन्ध रखा है। पश्चिमी राजस्थान जो थार के रेगिस्तान एवं आरवली पर्वत श्रंखला की पहाड़ियों का अनूठा सगंम है। इस क्षेत्र में स्वतंत्रता आन्दोलन जो कि पुरे देश में हुए आन्दोलन की तुलना में देरी से शुरू हुआ परन्तु यह क्षेत्र इस आन्दोलन से अछूता नहीं रहा यह प्रकट करता है कि स्वतंत्रता आन्दोलन वास्तविक रूप से जन–जागरण एवं जन संवेदनाओं के ज्वार का परिणाम था। पश्चिमी राजस्थान जिस में कि राजस्थान के आठ जिले 1. जोधपुर, 2. पाली 3. जैसलमेंर, 4. सिरोही, 5 बीकानेर, 6. बाड़मेंर, 7. जालोर, 8. नागौर को लिया जाता है। अपने आप में सुदूर रेगिस्तानी क्षेत्र में होने के बावजूद तत्कालीन समय में आन्दोलन कि चिंगाारी वहाँ तक भी पहुँच गयी। इस चिंगारी को हवा देकर आन्दोलन तक ले जाने में जिन–जिन माध्यमों की भूमिका रही उनमें हिन्दी समाचार पत्रों का अपना एक मजबूत वजूद है।

पश्चिमी राजस्थान में राजनीतिक जागृति ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों की तुलना में अपेक्षाकृत देरी से हुई। इसका प्रमुख कारण यह था कि पश्चिमी राजस्थान की जनता को ब्रिटिश शासन, राजा और जागीरदारों की तिहरी दासता सहनी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त राजपूताना, के विभिन्न राज्यों में आधुनिक सुविधाएं रेल,सड़क, डाक, तार एवं छापाखाने इत्यादि का भी अभाव था।

राजनीतिक चेतना के उदय में हिन्दी पत्रकारिता की भूमिका

पश्चिमी राजस्थान में राजनैतिक चेतना के विकास में आर्य समाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती का अविस्मरणीय योगदान है। उन्होंने पश्चिमी राजस्थान में बीकानेर (चूरू), उदयपुर और जोधपुर की यात्राएं की तथा पश्चिमी राजस्थान के राजा महाराजाओं और जनता को स्वधर्म, स्वराज्य, स्वदेशी और स्वभाषा का पाठ पढ़ाया। वास्तव में आर्यसमाज एक सामाजिक आन्दोलन ही नहीं, अपितु भारतीय नागरिकों में देशप्रेम उत्पन्न करने वाला आन्दोलन भी था। स्वामी दयानन्द की शिक्षा से पश्चिमी राजस्थानके नागरिक राजनीतिक दृष्टि से जागृत हुए। उन्हें अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का ज्ञान हुआ। इस तरह उनके ह्रदय में ब्रिटिशवारोधी भावनाएं जन्म लेने लगी।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार–प्रसार से भी शिक्षित वर्ग में तो चेतना बढ़ी ही, उस वर्ग के अनुसरण में अल्पशिक्षित वर्गो में भी चेतना का उदय हुआ। राजस्थान (मारवाड़) के प्रवासी व्यापारी वर्ग ने देशभर में आवागमन के द्वारा सूचनातंत्र बना लिया था। इस वर्ग ने भी अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिए राष्ट्रीय हितों की साधना करने में ही भलाई समझी।

1920 के पश्चात् गांधीजी के आह्वान पर समूचे राष्ट्र में राजनीतिक चेतना के लिए समाचार पत्रों को ही प्रमुख आधार बनाया गया तथापि 1920 से पूर्व ही राजस्थान के प्रारम्भिक समाचार पत्रों–पत्रिकाओं में इसके उदाहरण मिलते है, भले ही वे समाचार पत्र पूर्वोक्त कारकों के सह–अस्तित्व में काम कार रहे थे।

तत्कालीन समाज के हितों की रक्षा के लिए समाचार पत्र स्वयं को पूर्ण उत्तरदायी मानते थे। साथ ही जनहित में किसी भी बात को सरकार के समक्ष रखने से पूर्व नीतिगत युक्तियुक्तता की कसौटी पर कसना वाजिब समझते थे। ऐसे ही पत्रों से राजनीतिक चेतना को स्वर मिलने लगे।

मारवाड़ गजट ने ही डाकन प्रथा का विस्तृत समाचार छापकर रास गांव के ठाकुर को सजा दिलवाई। मारवाड़ गजट न केवल सरकारी सूचनाऐं प्रकाशित करता था अपितु कांग्रेस की गतिविधियों पर भी टीका–टिप्पणी करता था और उसमें राजनीतिक विषयों पर भी अग्रलेख प्रकाशित होते थे। भले ही यह राजपत्र था लेकिन कांग्रेस पर टीका–टिप्पणी करने वाले लेखों के जरिये भी आमजन में कांग्रेस के प्रति जिज्ञासा बढ़ने लगी।

बाबू बालमुकन्द गुप्त ने भी पश्चिमी राजस्थान की देशी रियायतों के पत्र–पत्रिकाओं को विकास में उपादेय बताते हुए देशी राज्यों के पत्रों की राजनैतिक चेतना में अहम भूमिका की ओर संकेत किया है। अजमेर से प्रकाशित अंग्रेजी पत्र राजपूताना हैराल्ड के देशी भाषी

संपादक हनुमान सिंह ने तो ए.जी.जी. कर्नल पॉलेट एवं जोधपुर महाराजा सर प्रताप के खिलाफ आवाज उठाई। पत्र ने नीमाज ठाकुर, जोधपुर राजकुमारी, कामदार हरिसिंह एवं अन्यान्य राजनैतिक पदों पर आसीन लोगों के जनविरोधी कारनामों का पर्दाफाश करते हुए प्रकटतः राजनैतिक चेतना का खुल्लमखुल्ला ऐलान कर डाला। संघर्षशील खोजी पत्रकारिता के पितामह मौलवी मुराद अली ने निरंतर जेल यात्रा के बावजूद अत्याचारों और जुल्मों के खिलाफ लिखना, छापना जारी रखा। उनके द्वारा संपादित राजपूताना गजट राजपत्र नहीं था परन्तु वे इसे किसी भी एक देशी रियासत के राजपत्र गजट से कई गुना अधिक प्रभावी बनाना चाहते थे। मूलतः उर्दू एवं आंशिक हिन्दी के इस पत्र ने इस राजपूताना प्रांत को इकाई मानकर राजनैतिक चेतना के लिए इसमें राजपत्र गजट से भी बढ़कर ढ़ेरों जनहितकारी सूचनाऐं प्रकाशित की है।

डॉ. प्रभाकर ने ठीक ही कहा है, "इन पत्रों ने चेतना के जो बीज बोये, उन्होंने आगे अंकुरित होकर प्रादेशिक राजाओं से भी अभिव्यक्ति की स्वाधीनता अर्जित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।"

वस्तुतः ऐसे समाचार पत्रों ने राष्ट्रीय चेतना के स्वरों को समग्र रूप से प्रकाशित किया है। उस काल के पत्रकार महत्वपूर्ण लेखक, कवि, समाजसुधारक, राजनीतिक लेखक और कार्यकर्त्ता, धार्मिक जगत के नेता और संतमहात्मा थे। उन लोगों में अद्वितीय साहस और अपने उद्देश्यों के प्रति परिश्रम करने की प्रबल शक्ति थी।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ के वर्षो में पि" चमी राजस्थान के समाचार पत्रों ने शेष भारत से निरंतर संबंध बनाये रखा और यहाँ के प्रवासी राजस्थानी व्यापारियों ने स्वयं अथवा अनुभवी पत्रलेखकों को समर्थन देकर विभिन्न प्रान्तों में भी पत्र–पत्रिकाऐं छपवाई। इनमें से कुछ जातीय पत्र थे, कुछ धार्मिक तो कुछ समाज सुधार संबंधी : फिर भी इन पत्र–पत्रिकाओं ने तत्कालीन ब्रिटिश भारत के स्वदेशी आन्दोलनों, भील आन्दोलन, स्थानीय किसान असंतोष, आंचलिक जनजातीय विरोध, व्यापारिक गतिरोध, रियासती शासकों के प्रशासनिक अधिकारों पर नियंत्रण एवं अन्याय विविध प्रकार की सामग्री को भी बराबर एवं बारम्बार छापते हुए किसी न किसी रूप में राष्ट्रीय जागृति में अपना योगदान अवश्य दिया है। यह स्वातंत्र्य आंदोलन इतना भव्य विशाल उपवन है कि किसी एक ही व्यक्ति, एक ही संस्था, एक ही पंथ, एक ही समाचार पत्र को इसकी सफलता का संपूर्ण श्रेय नहीं दिया जा सकता है तथापि राजपूताने के अशिक्षित पिछड़े देशी राज्यों में राजनैतिक चेतना के फैलाव के लिए समाचार पत्रों की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण रही है। राजनीतिक विचारकों एवं सामाजिक सुधारकों ने तो अपने उद्देश्यों के लिए समाचार पत्रों को ही सर्वोत्तम शस्त्र बनाया है।

राजस्थान में प्रकाशित पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशनकाल पर ध्यान दिया जाए तो विदित होता है कि राजस्थान के पत्र पत्रिकाओं को दीर्घ जीवन दुर्लभ ही रहा। कुछ पत्र बन्द हुए, तो कुछ नए निकले, किन्तु उनके प्रकाशन का सिलसिला बराबर जारी रहा। पत्रों के बन्द होने का एक कारण उनके द्वारा राजनीतिक चेतना जगाने वाली सामग्री छापना भी था, साथ ही अर्थिक विवशता भी। डॉ. प्रभाकर का मत है, "चुंकि स्वाधीनता पूर्व पत्रकारिता का मूल उद्देश्य राजनीतिक चेतना का विकास करना था, इस युग में साहित्य और राजनीति दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध था। राजस्थान समाचार, तरूण राजस्थान, नवीन राजस्थान, राजस्थान जैसे पत्रों में एक ओर जहाँ मुख्य रूप से रियासती शासन के अत्याचार और दमन के करनामों के विरूद्ध समाचार छापकर जनजागृति फैलाई, वहीं इन पत्रों ने समय–समय पर देशभक्तिपूर्ण कविताऐं और कहानियाँ भी प्रकाशित की। त्यागभूमि तो मूलतः साहित्यिक पत्र के रूप में ही प्रांरम्भ किया गया था और उस युग के अनेक लब्धप्रतिष्ठित साहित्यकार उसकी लेखक पंक्ति में थे। यहाँ तक कि समालोचक जैसे पत्र भी स्वदेशी आन्दोलन और अंग्रजी शिक्षा के दुर्गुणों जैसे विषयों पर सामग्री प्रकाशित करता था। तात्पर्य यह है कि साहित्यिक कहे जाने वाले पत्रों ने भी शैली, शिल्प और प्रस्तुतिकरण के अन्तर के साथ देश की तत्कालीन आवश्यकता के अनुरूप राजनीतिक चेतना मूलक सामग्री को प्राथमिकता प्रदान की। यों आज की भाषा में यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने प्रभूत परिमाण में राजनीतिक साहित्य अथवा सामयिक महत्व के साहित्य को प्रकाशित किया।

नवीन राजस्थान पर प्रतिबंध लगने पर संचालकों ने इस का नाम बदलकर तरूण राजस्थान कर दिया। पत्र के तीखे राजनीतिक तेवर को देखते हुए, अलवर, सिरोही एवं बूंदी में रोक लगा दी गई।

तरूण राजस्थान ने राजा महेन्द्रप्रताप के क्रान्तिकारी पत्र और उस पर एक अग्रलेख छापा फलस्वरूप अजमेर के नगर दण्डनायक ने शोभालाल गुप्त को दो वर्ष को कारावास का दण्ड दिया। पत्र ने शोभालाल का बयान छापा "इस नौकरशाही प्रशासन की बदौलत यह

देश जो कभी वैभवशाली था, नैतिक और आर्थिक पतन हो गया है और देशी राज्यों की बची–खुची स्वतंत्रता का अंत।" नीमूचाणाकाण्ड में तरूण राजस्थान ने इसकी जांच के लिए कमीशन बिठाने और दोषी लोगों को दण्ड देने की मांग की। पत्र ने भुक्तभोगियों के साक्षात्कार कर प्रामाणिक तथ्यों के साथ प्रकाशित किय। पत्र ने समय–समय पर देशी राज्यों की समस्यओं पर लाला लाजपतराय, महात्मा गांधी, पी.एल. चूड़गर के लेख तथा संपादकीय टिप्पणियाँ छापते हुए जनजागृति के प्रयास किये। साथ ही अलग–अलग ध्यान वस्तुस्थिति की ओर खींचने के प्रयास किये।

तरूण राजस्थान पर जोधपुर सरकार ने प्रतिबंध लगाया तो यह पत्र राजस्थान संदेश के नाम से पहुँचने लगा।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् आर्थिक–राजनैतिक हालातों पर राजस्थान संदेश ने लिखा, राजस्थानियों का पिछले युद्ध का कड़वा अनुभव यही है कि युद्ध में बलिदान तो किया प्रजा ने पर उसका फायदा मिला नरेशों को।"

जोधपुर पुलिस सुपरिन्डेंट ने जयनारायण व्यास को गिरफ्तार करके जो बयान दिये राजस्थान संदेश ने उसको हू–ब–हू प्रक्रशित किया जिससे जनमत जुटाने में भरपूर मदद मिली। "आर्यमार्तण्ड" पत्र ने इतना समग्र दुष्टिकोण अपनाते हुए सामग्री वैविध्य बनाये रखा कि स्थानीय समाचारों के लिए तो उस पर निर्भर रहना ही पड़ता था, प्रांत की राजनीतिक, सामाजिक और सार्वजनिक समस्याओं पर व्यक्त की जाने वाली उसकी सम्मति को आदर से देखा जाता था। चौसठ पृष्ठीय त्यागभूमि में राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक तीनों ही विषयों पर सामग्री होती थी। इस पत्रिका में एक ओर जहाँ शासकीय अत्याचारों के खिलाफ सटीक एवं निष्पक्ष संपादकीय टिप्पणियाँ भी होती थी, वहीं दूसरी ओर गांधीवादी विचारधारा से ओतप्रोत सृजनात्मक रचनाएं भी। त्यागभूमि ने राजस्थान की समस्याऐं शीर्षक लेख में स्वराज्य को ही एकमात्र उपाय माना है। जोधपुर में मारवाड़ यूथ लीग के समर्थन में पत्र ने प्रशासन द्वारा लगाये गये जुलूस प्रतिबंध की कड़ी आलोचना की। पत्र ने एक स्वस्थ पत्रकारिता मंच के रूप में कांग्रेसी देशी राज्यों के प्रश्न को अपने हाथ में क्यों न ले ? शीर्षक से पक्ष–विपक्ष विचारमाला शुरू की। उपर्युक्त वर्णित कतिपय पत्रों के चन्द ही उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता हो जाता है कि पत्रों ने न केवल आन्दोलनों पर प्रत्यक्षतः सामग्री ही प्रकाशित की है बल्कि समाजसुधार एवं राजनीतिक चेतना को भी बराबर महत्व दिया है।

''मारवाड़ की अवस्था'' एवं ''पोपाबाई की पोल''

अक्टूबर, 1929 के द्वितीय सप्ताह में मारवाड़ हिकारिणी सभा का प्रथम अधिवे" ान जोधपुर में सम्पन्न करने का नि" चय किया गया। जिसके लिए जोर–" ाोर से तैयारियाँ प्रारम्भ हो गयी। परन्तु जब तैयारियाँ पूर्ण हो चुकीं तो अचानक महाराजा के निजि सचिव ने एक राज्यादेश निकाल कर इस अधिवेशन पर रोक लगा दी, अतः इस पाबन्दी के विरोध में हितकारिणी सभा के सदस्यों ने जोधपुर में एक आम सभा का आयोजन किया, इस सभा में श्री जयनारायण व्यास एवं श्री आनन्दराज सुराणा आदि ने जोरदार भाशण दिये। श्री व्यासजी उस समय ब्यावर से ''तरुण राजस्थान'' नामक अखबार का प्रका" ान किया करते थे, अतः इन्होंने अपने अखबार में महाराजा के विरुद्ध छपे लेखों की प्रतियाँ श्री भँवरलाल सर्राफ को भेजी, इन भाशणों में ''मारवाड़ की अवस्था'' एवं ''पोपाबाई की पोल'' ने समूचे जोधपुर राज्य में तहलका मचा दिया।

जैसे–जैसे ब्रिटिश सरकार ने दमनकारी एवं सुधारात्मक दोहरी नीतियों के द्वारा जनता पर प्रभाव डालने के प्रयास किये, पत्रों ने भी समय के अनुरूप अपनी प्रवृत्तियों में प्रसंगानुकूल बदलाव करते हुए ठीक उसी प्रकार से समग्र सामग्री प्रकाशित की। शनैः शनैः ब्रिटिश सरकार ने उत्तरदायी शासन संबंधी विभिन्न तुष्टिकरण कदम उठाये और पत्रों ने भी उसी मात्रा मे ंजन असंतोष को बराबर आंदोलन से जोड़े रखा।

पश्चिमी राजस्थान के स्वंतन्त्रता आन्दोलन में हिन्दी समाचार पत्रों की भूमिका उपरोक्त से स्पष्ट हो जाती है। समाचार पत्र पश्चिमी राजस्थान में सबसें पहले मेवाड़ एवं अजमेर से आने शुरू हुए थे। पूरे देश में छपने वाले विभिन्न समाचार पत्रों ने पश्चिमी राजस्थान के इस आन्दोलन को यथोचित स्थान दिया है जो इस आन्दोलन कि महत्ता को प्रकट करता है। हिन्दी समाचार पत्रों का पश्चिमी राजस्थान में प्रदुर्भाव किसी भी प्रकार से हुआ हो लेकिन इन्होंने इस आन्दोलन को चरमोत्कर्ष तक ले जाने में जो भूमिका निभाई है वह वास्तविक रूप से एक सशक्त माध्यम ही निभा सकता है। पत्रकारिता द्वारा पश्चिमी राजस्थान में स्वतंत्रता आन्दोलन को देश भर में पहुचानें का काम भी इन्ही पत्रों ने किया।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची–

1 डॉ. विनीता परिहार, राजस्थान में प्रजामण्डल आन्दोलन, पृ.सं. 6–7।
2 विद्यार्थी सम्मिलित हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, कला –8, किरण 3, पृ.सं. 25–25।
3 जगहितकारक, 29 अप्रेल 1863।
4 देशहितैषी, अंक 5, खण्ड 1, पृ.सं. 4–5।
5 डॉ. मनोहर प्रभाकर – राजस्थान में हिन्दी पत्रकारिता, पृ.सं. 42।
6 गुप्त निबंधावली, पृ.सं. 361–365।
7 विद्यार्थी सम्मिलित हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, कला 8, किरण 3, सं. 1938 पृ.सं. 1–6।
8 गुप्त निबंधावली एवं बाबू बालमुकंद गुप्त, समाचार पत्रों का इतिहास : अम्बिका प्रसाद वाजपेयी।
9 राजपूताना हैराल्ड, 30 मार्च 1885 एवं 9 सितम्बर 1885।
10 के.एम. सक्सेना, पोलिटिकल मूवमेण्ट एण्ड अवेकनिंग इन राजस्थान, पृ.सं. 118।
11 राम रतन भटनागर, रा.ग्रो.हि.ज., पृ.सं. 131।
12 डॉ. मनोहर प्रभाकर – राजस्थान में हिन्दी पत्रकारिता, पृ.सं. 158।
13 राजपूताना गजट, 8 फरवरी 1896।
14 राजस्थान समाचार, 1 फरवरी 1896।
15 राजपूताना मालवा टाइम्स, 16 मार्च 1896।
16 समालोचक, वर्ष 1905, पृ.सं. 43।
17 स्वदेश, 29 जनवरी, 1928।
18 चौधरी रामनारायण, बीसवीं सदी का राजस्थान, पृ. सं. 43
19 राजस्थान केसरी, 26 जनवरी 1930।
20 नवीन राजस्थान, 3 दिसम्बर 1922।
21 तरूण राजस्थान, 2 एवं 30 मार्च 1923।
22 मीरां, अजमेर, 18 जनवरी 1947।
23 राजस्थान संदेश, 4 जनवरी 1932।
24 राजस्थान में हिन्दी पत्रकारिता (स्वतंत्रता आन्दोलन के संदर्भ में:–डा.आर.डी. सागर)

सैद्धांतिक व्यतिरेक : एक अध्ययन

डॉ. आशा रानी, हिंदी एवं भाषाविज्ञान विभाग, रानी दुर्गावती, वि.वि.

प्रत्येक भाषा एवं बोली की प्रकृति में अपनी निजी विशिष्टता होती है और भिन्न–भिन्न भाषाओं और बोलियों में भिन्न–भिन्न प्रकार की अनेक विशिष्टताएँ दिखाई पड़ती हैं। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के अनुसार ''काल की ही तरह देश–भेद से भी भाषा बदलती है, बहुत धीरे–धीरे।''[1] इन्हीं विशिष्टताओं के आधार पर दो या दो से अधिक भाषाओं या बोलियों के विभिन्न भाषायी तत्त्वों (ध्वनि, रूप, व्याकरणिक कोटि आदि) का तुलनात्मक व वर्णनात्मक विश्लेषण व्यतिरेकी विश्लेषण कहलाता है।

विजय राघव रेड्डी के अनुसार ''व्यतिरेकी अध्ययन के लिए दो या दो से अधिक भाषाओं या बोलियों के सभी स्तरों पर तुलना द्वारा समानताओं और असमानताओं का विश्लेषण किया जाता है।''[2] तुलना के लिए दो अलग–अलग लिपिबद्ध भाषा या एक ही भाषा की अलग–अलग बोलियाँ सकती हैं। बोलियों की तुलना का अर्थ होता है बोलियों की रूप, रचना, संरचना की तुलना। बोलियों में पारस्परिक संबंध इस प्रकार निर्धारित हो की पारस्परिक बोधगम्यता निर्धारित की जा सके। किसी भाषा में ध्वनियों के योग से शब्द, शब्दों के निश्चित क्रम से पदबंध और वाक्यों का निर्माण होता है।

जेसेंक फिसिएक[3] ने व्यतिरेकी अध्ययन के दो मूलभूत प्रकारों को स्वीकार करते हुए आरेख द्वारा व्यतिरेकी अध्ययन के सेद्धांतिक पक्ष को स्पष्ट किया है–

व्यतिरेकी अध्ययन

सैद्धांतिक व्यतिरेकी अध्ययन
अनुप्रयुक्त व्यतिरेकी अध्ययन

सामान्य 1 विशिष्ट 2 सामान्य 3

विशिष्ट 4

जेसेंक फिसिएक सैद्धांतिक व्यतिरेकी अध्ययन को प्रारूप भाषाविज्ञान (Typological Linguistics) का अंग मानते हैं। इससे भाषा के उपयुक्त प्रारूप के निर्माण में सहायता मिलती है, साथ ही समता सादृश्य एवं तुल्यता आदि धारणाओं को निर्धारित किया जा सकता है।आगे सामान्य सैद्धांतिक व्यतिरेकी अध्ययन तथा सामान्य अनुप्रयुक्त व्यतिरेकी अध्ययन को क्रमशः विशिष्ट सैद्धांतिक व्यतिरेकी व विशिष्ट अनुप्रयुक्त व्यतिरेकी अध्ययन के लिए आधार मानते हुए कहते हैं

[1] वजपेयी, किशोरीदास : हिंदी ' शब्दानुशासन, सं. 2055, पृ. 4।
[2] रेड्डी, विजय राघव : व्यतिरेकी भाषाविज्ञान, सन् 1986 ई, पृ. 117।
[3] Fisiak, Jacek : The Colish-English Contrastive Project, 1973, page 7

कि 1 और 2 के संबंध को सार्वभौम व्याकरण और विशिष्ट भाषा–व्याकरण के संबंधों के साथ लगभग जोड़ा जा सकता है। इसी प्रकार 3 के निष्कर्ष व विधियों एवं 2 की उपलब्धियों को 4 के काम में लाया जा सकता है।

व्यतिरेकी भाषाविज्ञान इस कार्य में प्रयत्नशील हैं कि दो भाषाओं की संकालिक संरचनाओ को इस तरह आमने सामने रखा जाए या दो भाषाओं की समकालिक संरचनाओं का इस तरह वैषम्य प्रस्तुत किया जाए।[4]

विजय राघव रेड्डी के अनुसार ''सैद्धांतिक भाषाविज्ञान'' वह माध्यम है जिसकी सहायता से –

1. भाषा के वर्णन में प्रयुक्त होने वाले विविध प्रारूपों का अविष्कार या विश्लेषण प्रक्रिया, जिनके जरिए भाषाओं का वर्णन उपयोगिता की दृष्टि से किया जा सकता है।
2. सार्वभौम व्याकरण की परिकल्पना और भाषा वर्णन में तुलनीयता का प्रतिमान स्थापित किया जा सकता है। निकेल[5] के अनुसार ''सैद्धांतिक विद्या विशेष के रूप में व्यतिरेकी भाषाविज्ञान का संबंध शुद्ध रूप से भषाओं की भाषायी संरचनाओं की तुलना एवं सार्वभौम व्याकरण के निर्माण से भी है।

सैद्धांतिक व्यतिरेकी विश्लेषण एवं अनुप्रयुक्त व्यतिरेकी विश्लेषण की

व्याख्या कार्ल जेम्स[6] ने निम्न प्रकार करते हैं –

व्यतिरेकी विश्लेषण

सैद्धांतिक अनुप्रयुक्त

अ ब अ (क)..... ब()

सार्वभौम कोटि

अ – भाषा 1 ब – भाषा 2

क भाषा 1 में सार्वभौम

भाषा वैज्ञानिक कार्य की वैज्ञानिकता सैद्धांतिक व्यतिरेक में निहित है। जहाँ दो भाषाओं की व्यवस्थाओं को प्रसतुत किया जाता है। व्यतिरेकी अध्ययन के कार्यक्षेत्र को निम्नलिखित आरेख द्वारा दिखाया जा सकता है –

व्यतिरेकी अध्ययन

सिद्धांत अनुप्रयोगिक

(सैद्धांतिक व्यतिरेकी व्याकरण)

(शैक्षणिक व्यतिरेकी व्याकरण)

[4] रेड्डी, विजय राघव : व्यतिरेकी भाषाविज्ञान, सन् 1986 ई, पृ. 26।
[5] Nickel, G : Contrastive Lingustics and Language Teaching IRAL, vol 6, page 37
[6] रेड्डी, विजय राघव : व्यतिरेकी भाषाविज्ञान, सन् 1986 ई, पृ. 85।

पर्याप्त भाषावैज्ञानिक सिद्धांत पर्याप्त व्यतिरेकी सिद्धांत शिक्षण में भाषाविज्ञान का अनुप्रयोग शिक्षण में व्यतिरेकी का अनुप्रयोग भाषाविज्ञान का अनुप्रयोग

व्यतिरेकी अध्ययन अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान का विषय है और अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान भाषा–शिक्षण का सहयोगी। भाषाशिक्षण की प्रक्रिया भी मातृभाषा एवं अन्य भाषा के संदर्भ में अलग–अलग होती है। ''व्यतिरेकी अध्ययन का मुख्य संबंध अन्य भाषा शिक्षण से है। मात्भाषा एवं अन्य भाषा–शिक्षण की सामान्य प्रक्रिया समक्ष लेने पर व्यतिरेकी अध्ययन का उद्देश्य पूरा होता है।''[7]

अन्य भाषा–शिक्षण की बढ़ती माँग से ही व्यतिरेकी भाषाविज्ञान का जन्म हुआ है। व्यतिरेकी भाषाविज्ञान को दो अमेरिकी वैज्ञानिक चार्ल्स सी.फ्रीज और राबर्ट लेडो ने एक व्यवस्थित शाखा के रूप में विकसित किया। सन् 1957 में राबर्ट लेडो द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'लिंग्विस्टिक्स एक्रॉस कल्चर्स' व्यतिरेकी भाषाविज्ञान का पहला आकार ग्रंथ है।

उपर्युक्त पुस्तक के अध्ययन से पता चलता है कि अन्य भाषा सीखने वाला कुछ ऐसी भाषा लिखता या बोलता है जो सीखी जाने वाली भाषा के अनुरूप नहीं होती इसका कारण बताते हुए उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि –

1. या तो उसने उस भाषा के नियमों को गलत तरीके से सीखा है।
2. या अभी उसने भाषा के व्याकरणि नियमों का अध्ययन पूर्ण रूप से नहीं किया है।

विजय राघव रेड्डी के अनुसार उपर्युक्त निष्कर्ष से यह अंदाज लगाया जाता है कि

क. यदि अन्य भाषा शिक्षण को सही दिशा में और वैज्ञानिक तरीकों से संपन्न कराया जाए तो सीखने वाला उस भाषा के अनुरूप भाषा का प्रयोग कर सकता है।[8]
ख. अन्य भाषा सीखने में कुछ कठिनाइयाँ होती हैं, वे इन्हें कठिनाइयों के स्थल या समस्यामूलक स्थल कहते हैं।

ग. विजय राघव रेड्डी के अनुसार कठिनाइयों के वे स्थल प्रायः वे ही होते हैं, जो सीखने वाले की मातृभाषा (स्रोतभाषा) और सिखाई जाने वाली भाषा (लक्ष्यभाषा) की संरचना के अंतर या भिन्नता के स्थल होते हैं।

उपर्युक्त विचारों से व्यतिरेकी भाषाविज्ञान की कुछ स्थापनाएँ सुनिश्चित होती हैं, जो निम्न हैं –

1. अन्य भाषा शिक्षण में सरलता और कठिनाई की व्याख्या, सीखने वालों की स्रोत भाषा और लक्ष्य भाषा की व्यतिरेकी तुलना में है।
2. अन्य भाषा शिक्षण के लिए सबसे अधिक प्रभावी शिक्षण सामग्री वह है जो सीखने वाले की स्रोतभाषा और लक्ष्यभाषा का समानांतर वैज्ञानिक व्यतिरेकी विश्लेषण तथा पाठ्य बिन्दुओं का चयन करके तैयार की जाती है।
3. जो शिक्षक शिक्षार्थी की स्रोतभाषा तथा लक्ष्यभाषा की वैज्ञानिक प्रविधि से तुलना करने की क्षमता रखता है, वह शिक्षार्थी की शिक्षण समस्याओं को बेहतर ढंग से समझ सकता है, और उनका बेहतर समाधान प्रस्तुत कर सकता है।

अंततः हम यह कह सकते हैं कि स्रोतभाषा और लक्ष्यभाषा की ध्वनि व्यवस्था, व्याकरण, शब्दावली एवं लेखन व्यवस्थाओं की तुलना प्रस्तुत करना ही व्यतिरेकी अध्ययन का उद्देश्यपूर्ण कार्य होता है, क्योंकि [9]इन्हीं से दोनों भाषाओं में विद्यमान ऐसी संरचनागत समानताएँ और असमानताएँ सामनं आ पाती हैं, जो सीखने वालों में मनोवैज्ञानिक उलक्षने पैदा करती हैं। इनके निष्कर्षों के आधार पर ही अच्छी शिक्षण विधियों का अविष्कार और अच्छी शिक्षण सामग्री का निर्माण हो सकता है। भविष्य में इस दिशा में शोध करने वालों के लिए योग्य सामग्री भी तैयार हो सकती है।

संदर्भग्रंथ :–

दुर्योधन महाराजा, : हिंदी उड़िया व्याकरणिक कोटियों का व्यतिरेकी अध्ययन।
विजय राघव रेड्डी, : व्यतिरेकी भाषाविज्ञान, ।
G. Nickel : Contrastive Lingustics and Language Teaching IRAL.
किशोरीदास वाजपेयी, : हिंदी शब्दानुशासन।
Jacek Fisiak : The Colish-English Contrastive Project.

[7] महाराजा, दुर्योधन : हिंदी उड़िया व्याकरणिक कोटियों का व्यतिरेकी अध्ययन, सन् 1984 ई. पृ. 5–6
[8] रेड्डी, विजय राघव : व्यतिरेकी भाषाविज्ञान, सन् 1986 ई, पृ. 23–24।

सूरदास और माधवदेव के गीतों में वात्सल्य रस

कुशल महंत, हिन्दी विभाग, मोरीगांव महाविद्यालय, मोरीगांव (असम)

मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन का स्वर लहर सारे देश में गूंज रहा था। भक्ति आन्दोलन को जिन महान विभूतियों ने परिपुष्टि दी है। उनमें महत्वपूर्ण स्थान सूरदास जी का है। महाकवि सूरदास की काव्य प्रतिभा न केवल हिन्दी साहित्य बल्कि समूचे भारतीय साहित्य में बेजोड़ है। यद्यपि उन्होंने कृष्ण के जीवन चरित्र को लेकर पद रचना की परंतु उनका मन कृष्ण के बाल–लीलाओं में विशेष रूप में रमा है। उन्होंने वात्सल्य का जो भव्य चित्रण प्रस्तुत किया वह उनकी प्रतिभा का परिचायक है।

जिन महात्माओं के अथक प्रयास से भक्ति की अथक अमृत सरिता देश के कोने–कोने तक प्रवाहित हुई, उनमें असम में महापुरूष विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शंकरदेव के प्रिय शिष्य माधवदेव के अथक प्रयास से असम में भक्ति आंदोलन को विशेष बल प्राप्त हुआ। सूर की भांति माधवदेव का मन कृष्ण के बाल्य रूप में ही रमा है। वात्सल्य रस के क्षेत्र में सर्वभारतीय स्तर पर जो स्थान सूर की है वही स्थान असम में माधवदेव का है।

सूरदास और माधवदेव भारत के दो भिन्न प्रांत के वैष्णव कवि है। दो भिन्न प्रान्त के होने के बावजूद भी सूरदास और माधवदेव दोनों में अनेक साम्य है। दोनों कृष्ण के भक्त और दोनों ने ही कृष्ण के वात्सल्य रूप का अत्यंत मनोहर चित्रण प्रस्तुत किया है।

जिस प्रकार सूरादास का वात्सल्य वर्णन हिन्दी साहित्य में अनूठा है, ठीक उसी प्रकार माधवदेव का वात्ससल्य वर्णन भी असमीया साहित्य में बेजोड़ है, परंतु दोनों में इतना ही अंतर है कि एक ने बंद आंखों से बाल सुलभ चेष्ठाओं का जो हृदयग्राही चित्र प्रस्तुत किया, वही दूसरे ने खुली आंखों से किया। दोनों के वात्सल्य भाव के आलम्बन बालकृष्ण और उनकी लीलाएं उद्दीपन का काम करती है। सुबह होने पर भी जब यशोदा बालक कृष्ण को निद्रासन में देखती है तो उन्हें जगाने का प्रयास करती है। उसे सूरदास ने इस प्रकार वर्णन किया –

जागिए ब्रजराज कुंवर कमल–कुसुम फूले।

कुमुद बृंद संकुचित भए भृंग लता भूले।।

तमचूर खग करत रोर बोलत बनराई।

रांभति गो खरिकनि मैं बछरा हित धाई।।

इसी प्रकार माधवदेव ने भी यशोदा के माध्यम से बालक कृष्ण को जगाने का प्रयास किया है, जिसका उदाहरण कुछ इस प्रकार दिया जा रहा है –

तेजरे कमला पति परभाते निंद।

तेरि चांद मुख पेखुँ उठरे गोविन्द।।

रजनी बिदूर दिश धवली वरण।

तिमिर फाड़िया बाजे रबिर किरण।।

माता की स्वाभाविक इच्छा होती है कि बालक दूध पिये, परंतु बालक दूध पीने से जी चुराता है। कृष्ण भी यही करते हैं। माता यशोदा कृष्ण को तरह–तरह के प्रलोभन देकर दूध पिलाना चाहती है, जिसका चित्रण सूरदास इस प्रकार करते है –

कजरी को पय पियहु लाल जासो तेरी बेनी बढ़ै।

जैसे देखी और ब्रज बालक त्यो बल बैस चढ़ै।

कवि माधव देव ने भी कृष्ण के दूध न पीने के हठ को इस प्रकार दिखाया है –

गोविंद दूध पिउ बोलए यशोदा।

दूध नखाया हरि कांदे उवा उवा।।

एक गोपी के घर माखन चोरी करता हुआ बालक कृष्ण पकड़ा जाता है। गोपियों के पूछने पर कि तुम यहां क्यों आए हो तब कृष्ण अपने बुद्धि चातुर्य से जो उत्तर देता है उसे सूरदास ने इन शब्दो में व्यक्त किया है –

मैं जान्यो यह घर अपनो है या धोखे में आयी।

देखत ही गोरस में चीटी काढ़न को कर नायो।।

माधवदेव ने भी कृष्ण के इस चातुर्य का वर्णन किया है। गोपियों के पूछने पर कि अपन हाथ माखन के कलश पर क्यों रख रहे हो तब कृष्ण कहता है कि मैं तो मात्र माखन के कलश से चिटियां निकाल रहा हूं –

हरि बोले गोपी बड़ दोष पाइलि बाछि

पिपरा गुचाइते लागि हाथ दिया आछि।।

घर के आंगन में खेलते हुए बच्चे की बाल चेष्ठाओं को देखकर मां प्रसन्न हो उठती है। बाल कृष्ण की इसी चेष्ठाओं को देखकर यशोदा को जो आनंद आता है, उसे सूरदास ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है –

किलकत कान्ह घुटुरननि आवत।

मनिमय कनक नंद के आंगन बिम्ब पकरिवै धावत।।

कबहुं निरखि हरि आपु छांह कौं कर सौं पकरन चाहत।

किलकत हंसत राजत द्वै दतियां पुनि–पुनि तिहिं अवगाहत।।

कवि माधवदेव ने भी बाल चेष्ठाओं के इन दृश्यों का सुन्दर चित्रण किया है –

यशोमती पेखिते नयन जुराय।

जगनन जीवन भक्त परमधन।

हासि हासि चरण धसाय।।

सूरदास के गीतों में बाल कृष्ण के प्रति गोपियों का वात्सल्य प्रेम अत्यंत आकर्षक बन पड़ा है। गोपियां अभिलाषा करती है कि बाल्य कृष्ण हमारे घर माखन चोरी करने आये –

चली ब्रजधर धरनि पर बात।

नंद सुत संग सवा लीन्हें चोरी माखन खात

कोउ कहती मेरे भवन भीतर आबहिं पैठे धाइ।

कोउ कहति मोहि देखि द्वारे उतहिं गए पराइ।।

माधवदेव के गीतों में भी बाल कृष्ण के प्रति गोपियों का वात्सल्य भाव उजागर होती है। दूध बेचकर आती हुई गोपियों को जब जानकारी होती है कि बालकृष्ण नृत्य कर रहे हैं तो वे सभी अपनी सामग्रियां छोड़कर कृष्ण को घेर लेती है और कृष्ण से कहती है कि गोपाल अच्छी तरह से नाचोगे तो तुम्हें अपनी इच्छा के अनुसार लड्डू मिलेगा।

दधि बिकि आसि शुनिल गोवाली

हरि नाचिवर कथा।

पसार पेलाइ लवरत्ते पाइ

कृष्णक बेढिल तथा।

स्ब गोपी मिलि बावे हात तालि

बोले भाल करि नाचा।

हाते तार खारू दिबो चिनि लारू

बापु पुरि तोर बांचा।।

सुबह होते ही कृष्ण गौओं को चराने के लिए वन चलते है। कृष्ण के बिना यशोदा बेचैन हो जाती है, शाम को कृष्ण वन से गाय चराकर लौटते हैं तो कृष्ण को देखकर माता यशोदा तथा ब्रजवासी आनन्दित हो उठते है। जिसके सहज अभिव्यक्ति सूरदास ने इस प्रकार दी है –

आजु हरि धेनु रचाएं आवत।

मोर मुकुट वनमाल बिराजत पिताम्बर फहरावत।।

जिहिं जिहिं भांति ग्वाल सब बोटल सुनि स्त्रवनन मन राखत।

आपुन टेर लेट ताही सुर हरषन पुनि–पुनि भाष।।

देखत नंद जसोदा रोहिनि अरू देखत ब्रज लोग।।

माधवदेव ने भी कृष्ण गौओं चराकर आते हुए मनोहर छवि का चित्रण प्रस्तुत किया –

माइ हेर गोकुल चांद आवे

सकल बालक माजे जिनि नटवर साजे

हासि रख भुवन भुलावे।।

मां के लिए उसका पुत्र ही अमूल्य धन है। वही पुत्र जब अपने मां से बिछुर जाता है तो मां के ऊपर क्या बितेगी, सजह ही अनुमेय है। वही स्थिति यशोदा की भी होती है। सूरदास माता यशोदा के मन की बात जान जाते है और लिखते हैं –

मेरे कान्हा कमल दल लोचन।

अबकि बेर बहुरि फिर आवहु कहा लगे जिय सोचन।

यह लालसा होति मेरे जिय बैठी देखत रहौं।

गाइ चरावन कान्ह कुंवर सो बहुरि न कबहूं केहौ।

यशोदा के व्यथित मातृममता का वर्णन माधवदेव जी ने भी बड़ी मार्मिकता के साथ की है –

आलो मञि कि कहबो दुख।

पराण निगरे ना देखिया चान्द मुख।

कत पूण्ये लभिंलो गुनेर निधि शाम।

बंचिया निलेक निकरूण बिधि बाम।।

कृष्ण के विरह में यशोदा अपने जीवन को भी धिक्कारती है। सूरदास जी के शब्दों में –

जिंहिं मुख तात कहत ब्रजपति सौं, मोहि कहत है माई।

तेहि मुख चलत सुनत जीवित हौ, बिधि सो कहा बसाई।।

यशोदा की इसी स्थिति का चित्रण माधवदेव जी ने भी किया है –

श्यामकानु बिने मोर नरहे जीवन।

हा श्याम बुलिते दगध करे मन।।

दोनों महानुभव भक्त कवियों ने अपने गीतों में वात्सल्य रस का सुंदर एवम सजीव चित्र उपस्थापित किया है। दोनों ने साहित्य दर्पणकार की इस उक्ति की ''स्फुट चमत्कारितया वत्संल च रस विदुः'' को सार्थक सिद्ध कर दिया है।

''चैतन्य महाप्रभु द्वारा वैष्णव धर्मान्तर्गत भक्ति का स्वरूप''

डॉ. शैलेन्द्र चौधरी, दर्शन विभाग, रा.दु.वि.वि.,जबलपुर (म.प्र.)

धर्म के अर्न्तगत कर्मकाण्ड का अपना एक अलग विशेष महत्व हैं; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति भिन्न–भिन्न होती हैं। अपनी–अपनी प्रकृति के अनुसार व्यक्ति विभिन्न देवी–देवताओं एवं विभिन्न मार्गों का चयन करता हैं। इन प्रकृति के विषय में संतो को मानना है कि कर्मकाण्डीय पूजा भक्ति के प्रवेश द्वार हैं। इससें ही शनैं–शनैं भक्ति का विकास होता हैं।

महाप्रभु चैतन्य ने काशी में दो मास रहकर सनातन गोस्वामी को भक्ति की शिक्षा प्रदान की थी। इसके उपरान्त भक्ति की स्थापना के लिए उन्होंने सम्पूर्ण विषयों को समाहित करने को कहा था। इसमें मुख्य रूप से मूर्ति स्थापना, मन्दिर को किस विधि से बनवाना, सदाचार, वैश्णव के विशेष आचार नियम, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य, स्मृति–शास्त्र, ईश्वर के अस्तित्व, वेदान्त एवं श्रीमद्भागवत की स्थापना करना इसमें मुख्य रूप से सम्मिलित था।

महाप्रभु ने सनातन से कहा कि इन सब विषयों को मैंने तुम्हें संक्षेप में दिग्दर्शन करा दिया है, इसका तुम्हें विस्तार करना है। इस विस्तार करने के लिए तुम्हें श्रीकृष्ण की ही शरण में जाना होगा। इससे वह तुम्हें स्वयं आगे की रचना के लिए तुम्हारे हृदय में उस विषय को स्फूर्ति करायेंगे।

श्रीमद्भागवत की स्थापना के संबंध में महाप्रभु कहते हैं – ''भागवत् में भक्ति ही एकमात्र पुरूषार्थ व प्रेमरूपा है। इसमें उपस्थित भक्ति अचिन्त्य है एवं यह समस्त शास्त्रों में राजा के समान है। इस शास्त्र को साधक द्वार विद्या एवं तप की प्रतिष्ठा से नहीं जाना जा सकता है, जो साधक ऐसा समझता है वह भागवत को नहीं जानता है। जो साधक अचिन्त्य ईश्वर बुद्धि से भागवत को जानता है, वही उसकी भक्ति के सार को जानता है।[1]

शास्त्रों में भागवान् श्रीकृष्ण के अनन्त गुणों का वर्णन है। महाप्रभु ने चौंसठ गुणों को प्रधान माना है। इन चौंसठ गुणों को समस्त वैष्णव लीला रूप में देखते है। यह गुण सिर्फ कृष्ण में ही हो सकते हैं, यह गुण अद्भुत एवं भक्तों को सुनने मे आनंद, शीतल व शान्ति प्रदान करने वाले होते हैं। इन गुणों को प्रत्येक वैष्णव रसम्य रूप में गुणगान करता है। ये गुण इस प्रकार हैं, यथा– (1) उनके अंग रमणीय हैं, (2) सत् लक्षणों से युक्त, (3) विलासम्य नवकैशोर है, (4) सुन्दर शरीर है, (5) तेजयुक्त (6) बलशाली, (7) भाषाओं के ज्ञाता, (8) प्रिय वाणी (9) सत्यवाकी, (10) प्रिय वचन (11) बुद्धिमान (12) विद्वान एवं नीतिज्ञ (13) चौसठ विधाओं में पूर्ण, (14) ज्ञानयुक्त (15) चतुरता (16) दक्षता (17) कृतज्ञता (18) सुदृढ़ प्रतिज्ञा (19) शास्त्र अनुसार कर्मयोगी (20) देशकाल परिस्थितियों के काम में निपुण (21) पापनाशक एवं दोष वर्जित (22) स्थिर (23) जितेन्द्रिय (24) क्लेश को सहन करने वाले (25) गम्भीर (26) क्षमाशील (27) क्षोभ शून्य युक्त, (28) दानवीर (29) रागद्वेष शून्य (30) धार्मिक (31) करूणा, (32) शूरवीर (33) गुरू, ब्राह्मणों व वृद्धों की पूजा करने वाले, (34) कोमल चरित्र, (35) स्तुति द्वारा संकुचित होने वाले (36) शरणागत–पालक (37) नम्र (38) सुखी (39) भक्तों के लिए सृहृत् (40) सर्वहितकारी (41) प्रेमवश्य (42) शूरवीर (43) यशी (44) समस्त लोक पूज्य (45) साधु पुरूषों पर कृपाशील (46) परम सौन्दर्य (47) सबके आराध्य (48) सर्वश्रेष्ठ (49) सम्पत्तिशाली (50) ईश्वर

यह समस्त पचास गुण जीवों में भी व्याप्त होते है, लेकिन वासना होने के कारण इनके यह गुण दिखाई नहीं देते हैं, हाँ जब साधक भक्त बन जाता है तो यह बिन्दु रूप में अवश्य प्रतीत होते हैं। यह पचास गुण श्रीकृष्ण में प्रत्यक्ष रूप में वर्तमान रहते हैं। इन पंचास गुणों के अतिरिक्त पाँच गुण विष्णु एवं शिव में भी दिखाई पड़ते है, वह हैं– (51) निज स्वरूप में स्थिरता (52) नित्य नूतनता (53) सर्वज्ञता, (54) सच्चिदानन्द–सान्द्राग (सत–चित्त–आनंद से भी परे अन्य वस्तु स्पर्श न कर सके) (55) सर्वसिद्धियाँ।

इन गुणों के अतिरिक्त अन्य पाँच गुण परव्योम अर्थात् विष्णु विशेषतः श्री नारायण के वैकुण्ठ लोक में पाए जाते है, यथा– (56) अचिन्त्यशक्ति गुण सम्पन्न (57) कोटि ब्रह्माण्ड धारण करना (58) सब अवतारों का बीज रूप धारण करना (59) शत्रु को मारकर तारने वाले (60) आत्मारामगणाकर्षी अर्थात् आत्माराम पुरूषों को भी आकर्षित कर लेते है।

इस प्रकार से यह साठ गुण नारायण के स्तर तक पाए जाते हैं, शेष चार अति विशेष गुण सिर्फ श्रीकृष्ण में पाए जाते हैं, यथा– (61) अद्भुत चमत्कारी तरंग के तुल्य है (लीला माधुर्य) (62) मधुर प्रेम द्वारा आकर्षित करने वाले (प्रेम माधुर्य) (63) मुरली की मधुर धुन द्वारा तीनों लोकों को वश में करने वाले (वेणु माधुर्य) (64) माधुर्य रूप से विस्मित करने वाले (रूप माधुर्य)।[2]

इसी प्रकार महाप्रभु ने श्रीराधा जी के भी अनंत गुण माने हैं इनमें से उन्होंने पच्चीस गुणों को ही प्राथमिकता दी है। यह पच्चीस गुण इस प्रकार है–

(1) मूर्तग्रूपामाधुर्य है (2) नित्य किशोरी अवस्थायुक्त है (3) चंचल दृष्टि (4) समुज्ज्वल मन्दहास्य युक्त है (5) मंगलचिह्नयुक्त (6) गन्धोन्मादितमाधवा (उनके गीत द्वारा माधव भी मुग्ध हो जाते है।) (7) संगीत–प्रसराभिज्ञा (संगीत में निपुण) (8) अत्यंत रमणीय वाणी (9) नम्र पण्डिता (स्त्री भावों के प्रदर्शन में निपुर्णता है।) (10) विनीता (11) करूणापूर्ण (12) सुचतुरा (13) श्रृंगार कुशलता (14) लज्जाशील (15) सुमर्यादा (16) धैर्यशालिनी (17) गाम्भीर्यशालिनी (18) श्रीकृष्ण द्वारा विलसिता (19) महाभाव परमोत्कर्षतर्षिणी (20) गोकुल प्रेमवती (21) भक्तों में सर्वाधिक प्रसिद्ध (22) गुरूजनों की स्नेहपात्री (23) सखीप्रणय आधीना (24) कृष्णा प्रियावली मुख्या (25) सदा कृष्ण की स्वामिनी।[3]

वैष्णवों में समस्त साधन व रागात्मिक भक्ति के ऊपर उठकर कलियुग में नाम–संकीर्त्तन को सर्वश्रेष्ठ माना है। नाम संकीर्त्तन से प्रभु प्राप्ति व समस्त विपदा का नाश होता है। वैष्णवों में श्रीकृष्ण के नामों का अलग–अलग तरह से नाम संकीर्तन देखने को मिलता है, यथा–

1. ''हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलं।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।।''

2. ''हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।।''

3. ''हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।
इति षोडशकं नाम्नांकलिकल्मषनाशनं।
नातः परतरोपायः सर्व वेदेषु दृश्यते।।''[4]

समस्त वैष्णवों का मानना है कि सृष्टि के उत्पन्न होने के पहले भी श्रीकृष्ण ही थे और वेदों में भी विष्णु के रूप में श्रीकृष्ण की ही स्तुति की गई है। श्रीकृष्ण ही सभी देवों में सर्वश्रेष्ठ हैं वही सच्चिदानन्दमय हैं। इसी सर्वश्रेष्ठता के विषय में महाप्रभु ब्रह्मसंहिता का प्रमाण देते हुए कहते हैं कि :–

''ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्।।''[5]

अर्थात्– ''गोविन्द माने जाने वाले श्रीकृष्ण उस ईश्वर से भी सर्वश्रेष्ठ है उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्द स्वरूप है, वे सब देवों के भी आदि देव है। वही सभी कारणों के भी कारण है।''

समस्त वैष्णवों में अचिन्त्यभेदाभेद– सिद्धान्त को मूल रूप से मानते है। इस सिद्धान्त के विषय में वैष्णव जन यह मानते हैं कि श्री चैतन्य देव ने अवतार ग्रहण करके अपनी सर्वज्ञता के बल से अन्य सम्प्रदायों की अवैज्ञानिकता का खण्डन करके वैज्ञानिक अचिन्त्य–भेदाभेदात्मक सिद्धान्त की स्थापना की। महाप्रभु इस अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त के माध्यम से ही भक्ति तत्त्व की प्रतिष्ठा करते है। महाप्रभु के अनुयायियों का मानना है कि शुद्धाद्वैत व विशिष्टाद्वैतवाद यह एक देशी श्रुतिशास्त्र सम्मत है, अन्यदेश विरूद्ध है, किन्तु अचिन्त्यभेदाभेद का सिद्धान्त सर्वदेश सम्मत है। यह अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त वेद–विहित भी है। इस सिद्धान्त से ही जीव के मोक्ष की कामना पूर्ण होती है।

अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त की दृष्टि से देखने पर श्रीकृष्ण से जीव का दोनों प्रकार के संबंध है। यह संबंध भेद व अभेद दोनों रूपों में है। इसी प्रकार जगत् से भी श्रीकृष्ण के भी यही संबंध है। जीव की सीमित बुद्धि होने के कारण वह इस भेदाभेद को नहीं जान सकता, इस कारण इसे अचिन्त्य कहा जाता है। इस अचिन्त्य के रूप में भागवत को भी रखा गया है, जो भक्त ऐसा समझता है कि वह भागवत को जानता है, वह मानो भागवत को नहीं जान पाया है। उसी प्रकार का यह अचिन्त्य तत्त्व है। इस अचिन्त्य को केवल परमेश्वर की विशेष कृपा द्वारा ही जाना जा सकता है जो केवल भक्ति में निहित है। पूर्ण शरणागत् होने पर ही प्रभु प्रसन्न होकर प्रेम की दृष्टि से इसको समझा सकते हैं। इस अचिन्त्य को प्रभु की शक्ति भी माना जा सकता है, जो तर्क से परे है ।

महाप्रभु वैष्णव के विषय में कहते हैं जिसके मुख से श्रीकृष्ण नाम निकलता है, वही वैष्णव है और वही वैष्णव पूज्य और सर्वश्रेष्ठ है। इस नाम के द्वारा ही जीव के समस्त पापों का नाश हो जाता है। नवधा भक्ति भी श्रीकृष्ण नाम के नाम संकीर्त्तन द्वारा ही पूर्ण होती है। यह नाम किसी व्यक्ति विशेष की अपेक्षा नहीं रखता, अपितु जिह्वा द्वारा नाम संकीर्त्तन से सबका उद्धार हो सकता है। यह नाम ही संसार बंधन का नाश करता है। इस नाम संकीर्तन का मुख्य फल कृष्ण प्रेम है। इस प्रेम के आकर्षण से ही श्रीकृष्ण वशीभूत होकर भक्त को प्राप्त होते है।

कृष्ण नाम का संकीर्त्तन करने से वैष्णव में छः प्रकार के गुण उत्पन्न हो जाते हैं जो बंधन से मुक्ति करते हैं एवं परमवैष्णव बनने में सहायता प्रदान करते हैं। (1) श्रीकृष्ण का नाम उच्चारण (2) श्रवण–कीर्तन से नवधा भक्ति स्वतः पूर्ण हो जाती है, (3) श्रीकृष्ण नाम का जिह्वा से स्पर्श मात्र से चण्डाल को मुक्ति देने वाला है, (4) इस नाम को लेने के लिए किसी की अपेक्षा नहीं रहती, (5) श्रीकृष्ण नाम चित्त में प्रेम का उदय करता है, (6) कृष्ण नाम संसार बंधन से मुक्त करता है।

महाप्रभु ने कर्म योग एवं ज्ञान योग को अभिधेय न मानकर भक्ति को अभिधेय माना है। इसमें इसके चौसठ अगों माने गए हैं जो समस्त जीवों के लिए देश, काल, स्थिति, दशाओं आदि में व्याप्त है। इन चौंसठ अंग को करने में जीव को किसी भी प्रकार का विचार नहीं करना होता है, यह साधन भक्ति को कर्त्तव्य के रूप में जीव को करना चाहिए।

साधन भक्ति में महाप्रभु ने श्रीविग्रह के वस्त्र, आसन, मन्दिर के संस्कार शुद्ध करने व सजाने के संबंध में विस्तृत रूप से बताया है। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण को रात्रिकालीन निद्रा व सुबह जगाने हेतु भी विधि को भी बताया है।

सर्वप्रथम पाँच प्रकार की पूजा सामग्री जैसे– अर्चन, गन्ध, पुष्प, दीप एवं धूप का उपयोग किया जाता है। इसमें भोग लगाने हेतु नैवेद्य मुख्य रूप से होता है। जिसे पंचोपचार विधि कहते हैं। इसके उपरान्त षोडशोपचार विधि के द्वारा पूजन करना होता है, जिसमें अर्चन, आसन, स्वागत, पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क, आचमनीय, पुनराचमनीय, स्नान, वसन, आभरण, गंध, धूप, पुष्प, दीप, नैवेद्य एवं चन्दन शामिल रहते हैं। इनके द्वारा पूजन किया जाता है। इसके अतिरिक्त षोडश उपचारों के साथ 89 उपचार भी सम्मिलित हैं, उनको भी इसमें करना पड़ता है। इस प्रकार कुल 105 उपचार श्री विग्रह की पूजा के लिए किए जाते है।

पूजा को दिन में पाँच बार करना होता है, जिसे पंचकाल पूजा कहा जाता है। जैसे–अति प्रत्युष, प्रातःकाल, मध्यान्ह, सायान्ह एवं रात्रि। इन पाँच प्रकार की पूजा के उपरान्त कृष्ण के प्रिय वस्तु का भोजन व लीला स्थल का भ्रमण भी इसमें शामिल है, जैसे आरती, कृष्ण भोजन, श्रीकृष्ण शयन, श्रीमूर्ति लक्षण, श्री शालग्रामलक्षण, श्रीकृष्ण क्षेत्र यात्रा, श्रीकृष्ण विग्रह दर्शन आदि हैं। इसके अतिरिक्त साधन भक्ति में जप, परिक्रमा, दण्डवत, स्तुति, वन्दन, श्रीकृष्ण प्रसाद, पुनश्चरण विधि भी शामिल है। इसमें विशेष यह भी है कि जब तक भोग न लग जाए भोजन ग्रहण नहीं करना है। महाप्रभु ने साधन भक्ति के अंतर्गत वैष्णवों को व्रत, त्यौहारों को मनाने का विशेष महत्व बताया है।[6]

इन व्रत, त्यौहारों की संख्या अधिक है फिर भी कुछ व्रत त्यौहार निम्न प्रकार से हैं– एकादशी व्रत, श्रीकृष्ण जन्माष्टी, वामनद्वादशी, श्रीरामनवमी एवं श्रीनृसिंह चतुर्दशी।

इस प्रकार इन सभी कर्मकाण्डीय कर्म (उपासना) करते–करते भक्त के अंदर अपने इष्ट के प्रति 'प्रेम' भाव जाग्रत होने लगते है और वह वास्तविक भक्ति में प्रवेश कर जाता हैं। जिसमें सारे नियम सिद्धांत पीछे छूट जाते हैं। केवल उसका इष्ट ही शेष बचता हैं।

सन्दर्भ :–

1. कृष्णदास कविराज, श्री श्री चैतन्यचरितामृत, मध्य खण्ड, एकविंश परिच्छेद, श्री हरिनाम संकीर्तन मण्डल, वृन्दावन, संस्करण–पंचम, सन्–2001 पृ. –490–491.
2. स्वामी प्रभुपाद, भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत, भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट, मुम्बई, संस्करण–ग्यारहवाँ, सन्–2007, पृ–140–142.
3. कृष्णदास कविराज, श्री श्री चैतन्यचरितामृत, मध्य खण्ड, त्रयोविंश परिच्छेद, श्री हरिनाम संकीर्तन मण्डल, वृन्दावन, संस्करण–पंचम, सन्–2001, पृ. –576.
4. स्वामी प्रभुपाद, भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत, भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट, मुम्बई, सन्–1982, पृ–184.
5. स्वामी प्रभुपाद, भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत, भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट, मुम्बई, सन्–1982, पृ.–80.
6. कृष्णदास कविराज, श्री श्री चैतन्यचरितामृत, मध्य खण्ड, चतुर्विश परिच्छेद, श्री हरिनाम संकीर्तन मण्डल, वृन्दावन, संस्करण–पंचम, सन्–2001, पृ. –639.
7. गोस्वामी, केशव, मायावाद की जीवनी, गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन, मथुरा, संस्करण–द्वितीय, सन्–2005.
8. गोस्वामी, केशव, श्री चैतन्य चरित्र–पीयूष, गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन, संस्करण–प्रथम, वृन्दावन, सन्–2004.
9. गोस्वामी, केशव, नामाचार्य श्रीहरिदास ठाकुर (शिक्षा–समन्वित जीवन चरित्र), गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन, वृन्दावन, सन्–2009.
10. गोस्वामी, रूप भक्तिरसामृतसिंधु, भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, मुंबई, संस्करण–चतुर्थ, सन्–1970.
11. गोस्वामी, रूप, भक्तिरसामृतसिन्धु, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, संस्करण–प्रथम, सन्–1963.
12. गोस्वामी, वीरचन्द्र, महाप्रभु–श्रीगौरांग, श्रीहरि संकीर्तन मण्डल श्रीधाम, वृन्दावन, संस्करण–प्रथम सन्–1985.
13. गोयल, उषा, श्री चैतन्य महाप्रभु संस्कृति और साहित्य, श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु पंचशती समिती, राजस्थान।

महिला श्रमिकों की समस्यायें

श्रीमति कमला पटैल, (अर्थशास्त्र) जबलपुर

देश की महिलाएं कही न कही कार्य करती है। वह घर का कार्य करती है, किन्तु बहुत सी स्थितियों में वह पैसा कमाने के उद्देश्य से बाहर भी कार्य करती हैं। ये कार्य करने वाली महिलाओं को उनकी सेवाओं के बदले जो परितोषण दिया जाता है उसे सामान्यतः मजदूरी कहा जाता है। मजदूरी एक ऐसी धुरी है जिस पर अधिकांश श्रम समस्यायें आसपास चक्कर लगाती है। मजदूरी ही श्रमिकों के जीवन का मुख्य आधार होती हैं एक श्रमिक का जीवन स्तर उसकी मजदूरी के आधार पर निश्चित किया जाता हैं।

श्रमिकों के सामने आने वाली सभी समस्याओं में से मजदूरी ही एक हैं। मजदूरी वह धुरी के समान है जिसके इर्द गिर्द श्रम समस्यायें चक्कर लगाती रहती है। ''श्रमिकों का आर्थिक कल्याण एवं उनकी कुशलता व उनका जीवन स्तर मजदूरी पर ही निर्भर करता है।

''सेलिगमैन के शब्दों में – श्रम का वेतन मजदूरी हैं।''

मजदूरी मुद्रा के रूप में वह भुगतान हैं जो समझौते के अनुसार एक स्वामी अपने सेवक को उनकी सेवाओं के बदले देता है।

पुरूषों और महिलाओं की मजदूरी में अंतर पाया जाता हैं। ऐसे भेदभाव का आधार व्यवसायों को पुरूषों और महिलाओं के लिये समान प्रकृति के कार्य करने पर मजदूरी में विभिन्नता पायी जाती हैं।

मजदूरी का भुगतान करते समय बिचौलिया मानक कटौती के नाम पर श्रमिकों की मजदूरी में से कुछ हिस्सा काट लेते हैं। घर पर काम करने में माल के कुछ हिस्से को वे खराब घोषित कर देते हैं। परिवार के सभी लोग इस प्रक्रिया को पूरा करने में लगे रहते है, किन्तु नियोजक उन पर कोई विचार नहीं करते और वे केवल एक श्रमिक की मजदूरी का भुगतान करते हैं। मजदूरी पीस रेट से दी जाती है। इससे श्रमिकों को नुकसान और नियोजकों को फायदा ही फायदा होता हैं। नियोजकों ने अपने फायदे के लिये ही इस प्रणाली को ढूंढ निकाला हैं।

न्यूनतम अधिनियम का क्रियान्वयन कृषि एवं अन्य असंगठित क्षेत्रों में एक कठिन समस्या है। श्रमिकों को ठेके पर काम करवाने वाले ठेकेदार इनको ठगते हैं और उन्हें उनकी वैधानिक मजदूरी से अलग रखते हैं। उनके पास ऐसे कोई अधिकार नहीं होते जिससे कि वे वैधानिक मजदूरी पा सके। यदि कोई महिला श्रमिक ऐसे नियोजक का विरोध करती हैं तो उन्हें अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ता है। कम भुगतान की घटना अक्सर प्रवर्तन अधिकारी द्वारा अनदेखा कर दिया जाता है क्योंकि ऐसी घटना के शिकार व्यक्ति निरीक्षण के समय अपनी शिकायत को अधिकारियों के समक्ष नहीं कह पाते हैं। यह प्रथा मकान बनाने वाले श्रमिकों के लिये बहुत ही सामान्य है। घरेलू सेवा वाले श्रमिक, पोशाक बनाने वाले श्रमिक ये सेवायें न्यूनतम मजदूरी में लिखित अनुसूची में नहीं आते हैं बहुत व्यवसायों में महिला श्रमिकों का शोषण टुकड़ेकर व्यवस्था में भुगतान के समय किया जाता है।

समान मजदूरी अधिनियम 1976 समान कार्य के लिये महिला एवं पुरूष श्रमिक को समान वेतन भुगतान की व्यवस्था है। जिन कार्यो के लिये समान कौशल की आवश्यकता होती है। उनमें समान प्रवास और जिम्मेदारी की आवश्यकता होती है। जिसे जबलपुर जिले के विभिन्न वार्डो के विभिन्न उद्योगों में कार्यरत महिलाएं एक निश्चित आयु वर्ग की महिलाओं का समूह सर्वाधिक कार्यशील होता है। इसका विवरण निम्न तालिका के माध्यम से प्रस्तुत है।

विभिन्न उद्योगों में कार्यरत महिला श्रमिकों की मजदूरी निम्न तालिकाओं के माध्यम से देखी जा सकती है।

तालिका – 1

जवाहरगंज

वर्गीकरण – सारणी					विश्लेषण – सारणी		
क्र.	उद्योग	कुल कार्य के घंटे	कुल मजदूरी (रूपयों में)	कुल दिवस	कार्य के घंटे (प्रतिदिन)	मजदूरी (प्रति कार्य घंटे) (रूपये में)	मजदूरी (प्रति कार्य दिवस) (रूपये में)
1.	बीड़ी उद्योग	35	222	06	5.84	6.34	37.0
2.	पापड़ उद्योग	59	355	10	5.90	6.07	35.50
3.	रेडीमेड वस्त्र निर्माण उद्योग	52	435	09	5.78	8.37	48.33
4.	अगरबत्ती उद्योग	–	–	–	–	–	–
		146	1012	25	5.84	6.93	40.48

महिला श्रमिकों की मजदूरी का विवरण

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि रेडीमेड वस्त्र निर्माण उद्योग में प्रति घंटे कार्य करने पर मजदूरी 8.37 रू. है। बीड़ी एवं पापड़ उद्योग में महिला श्रमिक की मजदूरी 6.34 एवं 6.07 है लगभग समान है। सर्वाधिक मजदूरी रेडीमेड वस्त्र निर्माण उद्योग में कार्यरत महिला श्रमिक है। एक दिन में एक महिला 5.78 घंटे लगभग कार्य है। इस तालिका में प्रतिदिन में औसत मजदूरी 40. 48 रू. मिलती हैं एवं औसत कार्य के घंटे प्रतिदिन 5.84 है। जवाहरगंज वार्ड में अगरबत्ती निर्माण कार्य बहुत कम मात्रा में किया जाता है।

इससे स्पष्ट है कि बीड़ी एवं पापड़ उद्योग की अपेक्षा रेडीमेड वस्त्र निर्माण उद्योग में महिलाएं प्रतिघंटे में 8.37 रू. मजदूरी प्राप्त करती हैं।

तालिका – 2

हनुमानताल वार्ड

वर्गीकरण – सारणी					विश्लेषण – सारणी		
क्र.	उद्योग	कुल कार्य के घंटे	कुल मजदूरी (रूपयों में)	कुल दिवस	कार्य के घंटे (प्रतिदिन)	मजदूरी (प्रति कार्य घंटे) (रूपये में)	मजदूरी (प्रति कार्य दिवस) (रूपये में)
1.	बीड़ी उद्योग	82	444	14	5.85	5.41	31.7
2.	पापड़ उद्योग	33	150	05	6.6	4.54	30.0
3.	रेडीमेड वस्त्र निर्माण उद्योग	45	250	06	5.55	5.55	41.6
4.	अगरबत्ती उद्योग	–	–	–	–	–	–
		160	844	25	6.4	5.27	33.76

हनुमानताल वार्ड

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि जबलपुर के हनुमानताल वार्ड में रेडीमेड वस्त्र निर्माण उद्योग में कार्यरत महिलाओं की प्रति कार्य दिवस 41.6 रू. है। अन्य उद्योगों की अपेक्षा रेडीमेड वस्त्र निर्माण उद्योग ने महिलाओं को सर्वाधिक रोजगार प्रदान किया है। बीड़ी एवं पापड़ उद्योग में महिला श्रमिक की मजदूरी 31.7 रू. एवं पापड़ में 30.0 रू. प्रतिदिन मजदूरी प्राप्त होती है। तथा रोजगार भी सप्ताह में 3 या 4 दिन प्राप्त होता है जिससे उनकी वास्तविक मजदूरी में कमी बनी रहती है तथा परिश्रम अधिक लगता है। किन्तु आर्थिक स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ है।

इस तालिका में प्रति घंटे में बीड़ी उद्योग में 5.41 रूपये मजदूरी दी जाती है। पापड़ उद्योग में प्रति घंटे में 4.54 रूपये मजदूरी दी जाती है। औसत मजदूरी 5.27 है जो लगभग रेडीमेड वस्त्र निर्माण उद्योग के समान हैं औसत मजदूरी प्रतिकार्य दिवस में 33.76 रूपये है।

महिला श्रमिकों की समस्यायें

भारत में काम करने वाली महिलाओं की समस्या औपचारिक और अनौपचारिक भिन्न रूपों में पाई जाती है। महिला श्रमिक कुछ विशिष्ट प्रकार की समस्याओं का सामना करती है। प्रत्येक व्यवसाय में कार्य करने की प्रकृति, क्षेत्र, उनकी शिक्षा का स्तर सामाजिक बनावट पर निर्भर करता है।

घरों में काम करने वाली पत्नि के अदृश्य काम का भारत के (जी.एन.पी.) में लगभग एक – तिहाई योगदान है। महिलाओं की घरेलू गतिविधियां आर्थिक विधियां नहीं समझी जाती है, इसे नियोजन की श्रेणी में नहीं माना जाता है। महिलाओं के कार्य परिवार के अंदर वस्तु एवं सेवाओं के उत्पादन अपने उपयोग के लिये क्षेत्रीय उत्पादन में इसका योगदान नहीं समझा जाता है। महिलाओं के कार्य वस्तुओं के उत्पादन को बाजार के लिये भी बाजारोन्मुख आमदनी और रोजगार के रूप में नहीं माना जाता है।

महिलाएं अक्सर अपने परिवार एवं घरेलू कार्यो में लगी होती है जिससे उनका आर्थिक उत्तरदायित्व का महत्व कम होता चला जाता है। महिलाओं को क्षेत्रीय दर्जे की श्रम शक्ति कहा जाता हैं। उनकी आमदनी को साधारणतः पारिवारिक क्षेत्र में योगदान माना जाता है। महिला वास्तव में एक अनुपयोगी सामान के मानव साधन के रूप में मानी जाती है। उन्हें अभी भी पुरूषों के सामान आर्थिक सहयोगी के योगदानी के रूप में स्वीकार किया जाना बाकी है।

संदर्भ :

1. तिवारी, श्रीमति सुमित्रा – प्रेरणापथ, नारी ही नारी व्यक्तित्व के सर्वागीण विकास में सहाय, राजीव नगर मंडला।
2. गिरि, वी.बी. – श्रम जगत पत्रिका, राष्ट्र के असंगठित श्रमिकों को समर्पित पत्रिका, राष्ट्रीय श्रम संस्थान, श्रम मंत्रालय, भारत सरकार (1999)
3. राज्य सरकार की उपलब्धियां – इरादा नये भारत का, आवास योजना सभी के लिये घर के लक्ष्य की ओर।
4. (भारत–2001) वार्षिक संदर्भ ग्रंथ – विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार मालवीय नगर भोपाल पृष्ठ 640 ।
5. दैनिक भास्कर – अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस के उपलक्ष्य में भारतीय महिलाओं को समाज में पुरूषों के बराबर का दर्जा (8 मार्च 2005)
6. बेंमटे, कु. शीशम – नारी और स्वतंत्र चेतना, शासकीय एम.के.बी. कला एवं वाणिज्य स्वशासी महिला महाविद्यालय जबलपुर (2005)

Important of social value in society

Shilpi Naval Pal, Researcher Philosophy RDVV Jabalpur

Types of values – We can speak of universal values, because over since human beings have lived in community, they have had to establish principle's to guide their behavior towards others.

In this sense, honesty, responsibility, truth, solidarity, cooperation, tolerance, respect and peace, among others, are considered universal values.

However, in order to understand them better, it is useful to classify values according to the following criteria:-

Personal values – these are considered principles on which we build on life and guide us to relate with other people. They are usually a blend of family values and social cultural values, together without own individual ones, according to our experiences.

Family Values: these are values in a family and care considered either good or bad. These derive format he fundamental be lives of the parents, who use them to educate their children. They are the basic principles and guide lines at our initial behavior in society and are conveyed through one behavior in the family; from the simplest to the most comply.

Social cultural values – these are the prevailing values of our society, which change with time, and either coincide or not with our family or personal values. They constitute a complex mix of different values and at times they contradict one another, or pose a dilemma.

Material values –these values allow us to survive, and are related to our basic needs as human being such as food and clothing and protection from the environment. They are fundamental needs, part of the complex web that is created between personal, family and social- cultural values.

Spiritual values – they refer to the importance we give to non material aspects in our lives. They are part of our human needs and allow us to feel fulfilled. They add meaning and foundation to our life, as to religious believes.

Moral values – The attitudes and behaviors that a society considers essential for coexistence, order and general well being.

Important of social value in society –

Values are the good habits that are contagious. They are passed down through generation values binds us together and set us apart. Today, our society is seeing a terrible amount of lack value people are discriminating and being discriminated against. Nature is being destroyed, while destruction is being planned. What can I say, we seem to be behind a legally of hatered and destruction for future generation what does our society need? It needs a value check and mindst change people are forgetting the values of extreme importance which we need to focus on.

Empathy:

the most important value in our life revolves around empathy. How on one concentrate on co-existing on the same. Planet, without a speak of empathy. We need to be able to accept others for what they are not what they can do for us. We need to stop concentrating on how we can reduce competition and focus on how we can grow together. While we all have to look out for ourselves at the end day, we need to remember this quote, "the day we stop fighting for each other, we stop being humans".

Mutual respect:

It is clear; we all have our strengths as well as weaknesses. Mutual respect means having respect in our minds for everyone. Even if you are up against a person, where in it is your honor against theirs, it is important to have mutual respect. It is these respects that make us balance between welfare state and social Darnisism in society. We need to respect our friends for their friendship and enemies for their ability to be

competative and their conviction. Mututal respect in one at the crucial values in a relationship.

Love:

This may seem surreal but honestly, love conquers all with love in our hearts, we feel no need to harm another. We will raise ourselves, rather than pull another down, we will focus on the similarities of opinions rather the difference of colour, religion or sexual orientation, we will punish but not kill, we will request, but not steal, with love, we will be people and not monsters. Yes, if we want our society, to be good to us, we need to be good to it, as well, After all, you give love, right?

Loyalty:

People often forget the meaning and important of loyalty. Loyalty is an emotion that binds us to a person, hings or sentiment. This emotion restricts us from ever betraying that person or thing. As such, what our society clearly needs today, is loyalty, We need to be loyal to each other, to shudderat the thought at speaking or thinking negative about each other. We need this loyalty to gather the strength to stand up against some things that will harm our society and to stand up for the oppressed. It is thus loyalty, that will being down the global walls and make this world one big home again.

Honesty:

In our own way, we think we are perfect. Honesty in is to accept yourself for what you are and let everyone know that as well. This honesty will help you make yourself better simply because you had the ability to admit your flows and work towards improving yourself. It is the honesty that will make others helps you out, not because you need it. But because they have flaws too, which you can help out with. This honesty will help us follow the other values in society and truly, 'Heal the World'.

Description is percent in our impulses and power to egulate which if not controlled can get it effective and waste, under the condition of an open chaos. The purpose is to being efficiency in the work by disciplined behavior. A disciplined persons thinking is directed towards discovering something new and better the constructive and accomplishes highe goals. He performs every act perfectly.

The behavior changes may be following elements as threat, fear, response changes may be following elements as threat, fear, response efficacy and self efficacy, barriers, benefits, subjective norms, attitudes, intentions, cues to action and reactance the major theories of behave change are

1. Social cognitive theory

2. Theory of planned behavior

3. Trans-theoretical model

Discipline is systematic instruction intended to train a person, sometimes literally called a disciple, in a craft, trade or other activity, or the follow a particular code of conduct or 'order'. Often the phrase 'to discipline' carries a negative connotation. This is because enforcement of order that is, ensuring instructions are carried out is often regulated through punishment.

Discipline is not a course of action leading to certain goal or ideal. A disciplined person is one that has established a good and is willing to achieve that goal at the expense of his or her individuality.

Discipline is the assert of will power ocer more base desires, and is usually understood to be synonymous with self-discipline is to same extent a substitute for motivation, when one uses reason to determine the rest course of action that opposes ones desire. Virtuous behavior is when one's motivations are signed with one's reasoned aims to do what one knows is best and to it gladly. Continent behavior, on the other hand is when one does what one know is best, but must do it by opposing one's motivational moving from continent to virtuous behavior required training and self-discipline.

Importance of discipline

Discipline training of the mind and character. It is obedience to rule and an orderly behavior.

There is need importance of discipline in our society and in our life in our home, in school, in the

playground and everywhere in this world discipline brings order.

The absence of discipline brings disorder and chaos. There are one some rules that control our activities. If we do not respect these rules, our life will be like about without the boatman. If we do not obey our parents at home, our teacher at school .In the playground, we can imagine what will happen. So both on parents and the teachers are very anxious to make us see the need of or discipline. They want us to grow up like disciplined soldiers.

In other words discipline is necessary both for the teacher and the students. A teacher is the leader of his changes. He must possess and maintain an intellectual and moral discipline of high order. However learned and scholarly a teacher may be, but if in his personal life leads an undisciplined life he will never be able to win and command the respect and obedience of students. Similarly, only a dedicated and disciplined student can come out a brilliant career for himself and serve the motherland.

In fact, discipline in the basic principle behind the progress and smooth working of an individuals and a nation. It is essential for the preservation of social values. But discipline should be inborn and self-imposed rather than externally imposed. It should be a tenar and mode of life based upon moral basis rather than an extend compustion caused by an unscrupulous and power hungry authoritarian government. It should be tought by education and enlightment.

Reference :

Hurlock, Elizabeth, B. (1978) “Child Development”, fifth edition, Tata Mcgraw Hill Publishing Co. New Delhi.

Kapil, H.K. (1994-1995). “Research Methods in Behavioral science”, Har Prasad Bhargav Pustak Prakashan, Agra.

Kothari, C.R. (2001). “methods and techniques of Research”, New Age International Publishers.

Kulshrestha, S.P. (2001).“Education Psychology’’, R lall Book Depot. Meerut, Fifth Revised Edition 2001.

Kuppuswamy, B. (1990) “child behavior and Development”, second Edition, Vinci Education Books, Delhi.

Saxena, N.R.; Mishra, B.K. and Mohanty, R.K. (2004). “Fundamentals of education research”, Meerut Surya Publication.

Sharma, R. A. (2001). “Advanced statistics an education Psychology”, R. Lal Book Depot, Meerut (U.P.)

Tiwari, Govind and Paul,Roma, “Experimental Psychology: A Dynamic Approch”, Vinod Pustak Mandir, Agra.